# गुरुकुल पत्रिका

## मासिक शोध पत्रिका

**MONTHLY RESEARCH MAGAZINE**


सम्पादक :

**डा० जयदेव वेदालंकार**

न्यायाचार्य, पी-एच०डी, डी०लिट्०

सीनियर प्रोफेसर— दर्शन विभाग

एवं

अध्यक्ष (डीन) – प्राच्य विद्या संकाय


## गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार



| | | |
|---|---|---|
| चैत्र-वैशाख | वर्ष-४४ | मार्च १९९३ |

मूल्य— ५ रुपये मात्र

# विषय सूची :-

# सम्पादक मण्डल :

| | |
|---|---|
| मुख्य संरक्षक : | **प्रो० सुभाष विद्यालंकार**<br>कुलपति |
| संरक्षक : | **प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार**<br>आचार्य एवं प्रो-वाइचान्सलर |
| परामर्शदाता : | **डा० विष्णुदत्त राकेश**<br>प्रोफेसर – हिन्दी विभाग |
| सह सम्पादक : | **डा० विजय पाल शास्त्री**<br>रीडर एवं अध्यक्ष—दर्शन विभाग |
| व्यवसाय प्रबन्धक : | **डा० जगदीश विद्यालंकार**<br>पुस्तकालयाध्यक्ष |
| प्रबन्धक : | **श्री हंसराज जोशी** |
| मूल्य : | २५ रुपये (वार्षिक) |
| प्रकाशक : | **डा० भारत भूषण विद्यालंकार**<br>कुलसचिव<br>गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार |

मुद्रक:– किरण प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार ☎ : ४२५६७५

# श्रुति सुधा

चित्तिमचित्ति चिनवदिव विदवान्पृष्ठेव वीता वृजिना च मर्तान्। राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य ॥

**पद पाठ—** चितिम्। अचितिम्। चिनवत्। वि। विद्वान्। पृष्ठाऽइंव। वीता वृजिना। च। मर्तान्। राये। च। नः। सुऽअपत्याय। देव। दितिम्। च। रास्व। अदितिम्। उरुष्य।

**अन्वय—** विद्वान्। वीता वृजिना पृष्ठा इव चित्तिम् अचित्तिम् वि चिनवत्। मर्तान् च। देव। न रामे सु अपत्याय च दितिम् रास्व। अदितिम् च उरुष्म।

**शब्दार्थ—** पुण्य रुप कर्म, ज्ञान। अचित्तिम् – पाप रुप कर्म, अज्ञान। विचिनवत् पृथक करे। विद्वान् - जानने वाला। पृष्ठा इव - पीठों के समान। वीता - सुन्दर चढ़ने योग्य। वृजिना - दुर्वह न चढ़ने योग्य। मर्तान् - मनुष्यों को। रावे - धन के लिये। न – हमारे। सु अपत्याय - उत्तम सन्तान के लिये। देव - हे दीप्तिमान् अग्ने। दितिम् - दान देने वाले को। रास्व - दो। अदितिम् - दान न देने व ले से। उरुष्म - रक्षा करो।

**प्रार्थना—** प्राणियो के पापों और पुण्यों को जानने वाला वह अग्नि देवता जिस प्रकार अश्वशाला का रक्षक घोडो की सुन्दर चढ़ने योग्य और दुर्वह न चढ़ने योग्य पीठों को पृथक् - पृथक् करे और पुण्य कर्मा तथा पापी मनुष्यों को पृथक् पृथक् करे। दीप्तिमान् अग्ने ! तुम हमारे धन के लिये और उत्तम सन्तान के लिये होओ अर्थात् हमे धन और उत्तम सन्तान प्रदान करो। हमें दान देने वाला मनुष्य दो और दान न देने वाले से हमारी रक्षा करो।

**(मण्डल ४ सूक्त– २, मन्त्र–११)**

**(ऋग्वेद से साभार)**

# आधुनिक युग और वेद

मानवीय मूल्य अथवा जीवन मूल्यों का तात्पर्य है जीवन के प्रति मौलिक दृष्टिकोण। आज तक मानव शास्त्रियों के लिये जीवन एक पहेली बनी हुआ है। मनुष्य इस संसार में जन्म लेता है और कुछ वर्षों के पश्चात् मृत्यु का ग्रास बन कर चला जाता है।

आज के युग में विभिन्न सम्प्रदाय और विज्ञान के बीच संघर्ष चल रहा है कि जीवन की यथार्थता क्या है ? विज्ञान के आविष्कारों ने हमें यह मानने के लिये बाध्य कर दिया है कि जीवन की यथार्थता का दूसरा पहलू भी है। केवल धार्मिक मर्यादायें ही नहीं अपितु जीवन के जीने का दृष्टिकोण आर्थिक और सामाजिक आवश्यकताओं पर भी आधारित है। परिणामतः हमारा आज का जीवन मूल्य बहुत कुछ विज्ञान की देन है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या विज्ञान अपनी समस्त उपलब्धियों के होते हुये भी हमारे जीवन मूल्य निर्धारित करने में सक्षम है।

यह तो ठीक है कि विज्ञान के प्रभाव और आर्थिक दृष्टिकोण से अपनाये गये जीवन मूल्यों को अपनाने के आलोक मे मानवता ने अपने ऊपर लदे हुये परम्परागत विश्वासों तथा तज्जन्य शिथिलता मृत भार) को उतार फेंका और प्रगति का मार्ग अपनाया। मनुष्य ने जीवन के साधनों को बहुत अधिक अभिवृद्धि कर ली है परन्तु इसके दुष्परिणाम भी कुछ कम नहीं हैं। इसके द्वारा एक मात्र जैव मूल्यों को ही प्रामाणिक मानने के कारण जीवन के इतर मूल्यों का समाज मे धीरे-धीरे लोप सा हो रहा है। सहयोगियों के मध्य पारस्परिक सहयोग और प्रेम के स्थान पर प्रतियोगिता और कटुता बढ़ती जा रही है। हमें किसी न किसी प्रकार से सबसे आगे बढना है इसके लिये हम दूसरों को भ्रमित कर सकते हैं, धक्का दे सकते हैं और फिर उनके ऊपर पैर रखकर शीघ्र प्रगति के लिये छलांग मार सकते है। ओलम्पिक दौड़ में तो कुछ पर्यवेक्षक होते हैं जो स्थिरता के साथ सद् और असद् आचरण का विवेक करते हैं परन्तु जीवन की आज की दौड़ में तो जो पर्यवेक्षक है वे भी स्वयं अपनी दौड़ लगा रहे हैं। क्या व्यवसाय क्या सेवायें क्या संस्थायें, क्या फैक्ट्री में कार्यरत यूनियनें क्या राष्ट्रीय व्यवस्थायें, क्या अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियाँ सर्वत्र आपाधापी लगी हुई है। फैक्ट्री की यूनियनों के चुनाव से लेकर राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय चुनावों की मर्यादाये नियम केवल पुरातन उपदेश प्रतीत होने लगे हैं। हाहाकार चीत्कार एक दूसरे को मरवाना/ राजनीति की दौड़ जैव मूल्यों को भी पीछे धकेल कर जीवन का कोई भी मूल्य नहीं होता, न कोई संविधान, न नियम एवं प्रतिबद्धता कुछ भी तो नहीं रहा सा प्राप्त होता है। केवल सफलता प्राप्त करना ही मूल्य अवशिष्ट सा रहा प्रतीत होता है। इस प्रगति का गन्तव्य क्या है।

जब आधुनिक मानव शास्त्री विश्व को विनाश के कगार पर खड़ा हुआ सा पाता है तो उसे जीवनधारा को बदलने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। यही कारण है कि जिस समय क्या व्यक्ति क्या राष्ट्र सभी इस धुन में लगे हुये हैं कि जेब कैसे भरी जाय। राष्ट्रों की कूटनीति आज बहुत कुछ इसी के चारों ओर चक्कर काट रही है। हम किस प्रकार समस्त विश्व में अपने माल का विज्ञापन में शोर मचा दें कि सभी लोग हमारा माल खरीदें। हम किन – किन देशों को किन देशों से लड़वा दें कि वे हमसे लड़ाई के अस्त्र – शस्त्र अधिक से अधिक खरीदें।

इस प्रकार के नाना विधि प्रयास हमारी राजनीति तथा अर्थ नीति के ध्रुवीय बिन्दु बन गये है। तो भी इस अवस्था में विश्व मंच पर यह विचार उभर कर ऊपर आया है कि आणविक हथियार होड़ से विश्व विनाश के कगार पर आ खड़ा हुआ है हमें आणविक हथियारों को कम करना चाहिये, यह तथ्य इस बात को मानने को विवश करता है कि जैव मूल्यों की अपेक्षा मानवीय मूल्यो का समाज निर्माण में तथा समाज की संरचना में अधिक महत्व है। जैसे राष्ट्र को एक संविधान की आवश्यकता होती है, समाज को सुचारू रूप में चलाने के लिये राज्य नियम बनाते हैं इसी प्रकार मनुष्य एक व्यक्ति से लेकर समाज को समस्त वर्गो अपने ही नियमों से अपने को प्रतिबद्धित करना होगा। आओ विज्ञान के सुख का समुचित उपयोग करने के लिये एवं पूर्ण रूपेण सुखी जीवन के लिये वेदो की ओर भाग चलें और देखे वेद जिसको हम आदि काव्य अथवा ग्रन्थ कहते है वे आज भी प्रासगिक हैं अथवा नही ? क्या वे आज भी हममे आधुनिक हैं। वेदो को भारतीय ही नही अपितु विश्व साहित्य का प्रथम साहित्य माना जाता है।

वेदों की शिक्षायें जीवन के प्रारम्भिक काल से अर्थात् बाल्य काल से ही जीवन मूल्यों का निधारण करती हैं। इसके लिये मनुष्य जीवन को चार विभागो में विभाजित किया था। वे विभाग है ब्रह्मचर्य अर्थात् निर्माण – अवस्था। दूसरी अवस्था - गृहस्थ आश्रम अर्थात् संग्रहावस्था। तीसरो अवस्था है वानप्रस्थाश्रम अर्थात् जीवन की न्यूनताओं को दूर करके त्याग की स्थिति प्राप्त करना। चतुर्थ अवस्था सन्यास की थी जिसमें विरक्ति भाव उत्पन्न करता था। आधुनिक मनो विज्ञान में वाटसन का व्यवहारवाद सबसे अधिक पर्यावरण पर जोर देता है। वास्तव में जैसे पर्यावरण में मनुष्य रहता है वैसा ही उसका निर्माण भी होता है। यदि हम चाहते हैं कि हमारे औद्योगिक संस्थान् के समीप रहने वाले नगर के लोगों के मन मे यह विचार कदापि नहीं आयेगा कि रात को वहां जाने पर कोई कत्ल भी कर सकता है। अतः मानवीय मूल्यों की सबसे अधिक आवश्यकता औद्योगिक सस्थानों में ही है। यहा पर शान्ति एवं सौहार्दपूर्ण वातावरण होगा तो उत्पादन अधिक होगा, उत्पादन अधिक होने पर राष्ट्रीय आर्थिक समस्या का समाधान स्वतः हो जायेगा। यह तभी सम्भव होगा। जब हम ऋग्वेद के सगठन सूक्त को औद्योगिक सस्थानों का मूल्य आधार बनालें।

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवाभागं यथापूर्वे संजानाना उपासते ।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्
समानं मन्त्रः मभिमन्त्रयेवः समानेन वोहविवाजुहोमि ।।
समानीवः आकूतिः समानाहृदयानिवः ।
समानमस्तु वो मनो यथाव सुसहासति ।।

हम मिलकर चले, मिलकर एक होकर बोले पूर्व विद्वानों की तरह एक होकर चलें अर्थात् कर्मचारी अर्थात् मजदूरों के बीच का मार्ग दोनों का एक हो। इसी प्रकार यहां कार्य करने वाले मजदूर और अधिकारियों के विचार, समिति, मन तथा त्याग की भावना दोनों में समान रूप से हो, अधिकारीगण धरणा देकर मजदूरो को न ठगें अर्थात् किसी भी तरह उनका शोषण न हो इसी प्रकार मजदूर अपने कर्तव्यो का ईमानदारी से पालन करे।

शिक्षा संस्थानों में यह मानवीय गुणो की रक्षा तथा बोध कराने वालो को शिक्षा पाठ्यक्रम का अंग बनाना चाहिये। अन्यथा इग्लैण्ड की तरह यन्त्रो पर मनुष्य का मूल्य कागज और लकड़ी के समान हो जायेगा। (दृष्टान्त)

वैदिक साहित्य मे ऐसे समाज संरचना का वर्णन किया गया है, यदि इस भूमि पर वैसा समाज बन सके तो धरा पर स्वर्ग उतर आयेगा। उपनिषदों मे विश्व-विद्यालयो एवं शिक्षणालयो मे एक वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक पर्यावरण बनाने पर जोर दिया है। प्राचीन काल मे स्वभाव और गुण भेद से चार वर्णों की कल्पना कर्मों के अनुसार की गई थी न कि जाति के आधार पर। उनका आधार अज्ञान को दूर कर ज्ञान का प्रसार करने वाले अर्थात् निरक्षर को साक्षर बनाने वाले को ब्राह्मण अन्याय के विरूद्ध संघर्ष करने वाले को क्षत्रिय और कृषि व्यापार से देश की समृद्धि शाली बनाने वालों को वैश्य तथा जो पढ़ाने पर भी पढ़ न सके उसे सेवा का व्रत धारण करने के कारण शूद्र कहा जाता था। इसमें वर्ण श्रेष्ठता व शूद्रता सूचक न होकर कर्म का सूचक होता था।

वेद में आदर्श पत्नी और आदर्श परिवार की संरचना का विधान भी बिस्तृत रूप में किया है। मनुष्य चाहे, मजदूर के रूप मे हो, प्रशासक के रूप में परिवार के रूप में, राजा तथा राष्ट्र के रूप में जीवन की चाहे कोई भी धारा क्यो न हो सभी स्थितियां और सभी अवस्थाओ में मूल्यों की निर्धारित सीमाओ में बन्ध कर रहना होगा।

# दर्शन दिग्दर्शन

**प्रा. भद्रसेन, वेद-दर्शनाचार्य (होशियारपुर) १४६०२१**

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है, इसीलिए इस को मनुष्य मानव कहते हैं। जिसका अर्थ है — सोचने वाला, इनकी मूल धातु है—मन, जो कि अवबोधन — ज्ञान, समझ के मूल बिन्दु को प्रकट करती है। अन्य प्राणियों की अपेक्षा यही मानव की उत्कृष्टता का एक आधार है और इसी के आधार पर ही मनुष्य ने अनेक क्षेत्रों मे प्रगति की है। आंख खोलते ही मानव शिशु अपने चारों ओर की वस्तुओं को घूर-घूर कर अपनी आंखों से देखता है। बोलना सीखते ही अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए प्रश्नों की झड़ी लगा देता है। वह अपने चारो अर, विद्यमान वस्तुओ के ज्ञान और यथा समय अपने मन मे उभरने वाली आशंकाओं की निवृत्ति के लिए सदा ही प्रयत्नशील रहता है।

मनुष्य जैसे - जैसे शारीरिक तथा मानसिक प्रगति करता है तब अपनी योग्यता शिक्षा, रुचि के अनुरुप कुछ न कुछ सोचता है। जाग्रत अवस्था का ऐसा कोई विरला ही समय होता है जब कोई किसी सोच एवं चाहना से शून्य हो। सामान्य स्थिति मे जहां अन्य अनेक तरह के विचार उभरते है, वहा कभी - कभी मन मे अनेक तरह के विचार उभरते हैं वहां कभी - कभी मन में अनेक तरह के गम्भीर विचार भी उठते हैं। इन उभरने वाली जिज्ञासाओ मे जहा संसारी बाते होती है, तो वहा कभी जीवन और जगत की जिज्ञासाये भी। क्योंकि मानव की यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह आंख मूंद कर किसी बात को नही मानना चाहता। बिना समझे - बूझे किसी परिणाम पर पहुंचना नहीं चाहता। मनुष्य की मानव शीलता, वैज्ञानिक प्रवृत्ति की यह एक स्वाभाविक मांग है।

जब एक व्यक्ति सासारिक चिन्ताओ से दूर होकर एकान्त - शान्त स्थिति में होता है, तो वह अपने चारों ओर फैले हुए जगत तथा अपने सम्बन्ध मे सोचता है। गहराई से सोचते - सोचते उस के सामने अनेक प्रश्न पैदा होते हैं कि इस संसार का स्वरुप क्या है? यह कब, कैसे, क्यो बना? इसके मूलतत्त्व क्या है? यदि इसके बनाने वाला कोई है, तो उस कर्ता का स्वरूप क्या है? वह इसको कैसे बनाता है और उसने इसको कब, क्यों बनाया?

इस प्रश्नमाला के साथ अपने सम्बन्ध मे भी जिज्ञासा उभरती है, कि मैं कौन हूं? इस अपार संसार में कब, क्यो, कैसे, इस रूप मे आया हूं? यहा अपनी इच्छा से

---

१— मत्वाकर्माणि सी॰ यन्ति, मनस्यमानेन सृष्टाः, मनस्यति पुनर्मनस्वी भावे, मनोरपत्यं, मनुषो वा निरुक्त ३,२

आया हूं या परवश होकर ? यहां आने का मेरा उद्देश्य क्या है। मैं सर्वप्रथम स्वतन्त्र हूं या परवश हू। यह जीवन, सुख - दुख क्या है। इस संसार इस के कर्ता और मेरा परस्पर क्या सम्बन्ध है। इन प्रश्नों के चिन्तन, मनन, विवेचन का नाम ही दर्शन है। ससार में प्रत्येक काल के मनीषी के मन में ये प्रश्न उभरे है और उन्होने अपनी - अपनी योग्यता, रुचि, सुविधा के अनुरुप इन प्रश्नों का उत्तर खोजने का हर सम्भव प्रयास किया।

दर्शन शब्द सामान्य रूप से देखने के अर्थ में प्रसिद्ध है। वैसे देखने के साधन के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। दर्शन शब्द दृशिर (प्रेक्षणे) धातु से ल्युट–अन प्रत्यय होने पर बनता है। प्र + ईक्षण अच्छी तरह से, गहराई से देखने का भाव जहां प्राथमिक स्थिति में सामने आता है, वहां 'गहरे पानी पैठ' के अनुरूप सोच–विचार की अन्तिम स्थिति तक सारा विषय इस के अन्तर्गत आ जाता है। द्रष्टा[१] देखने, सोचने वाले की योग्यता, विद्या, रुचि और स्तर के भेद से देखने, सोचने मे जहां अन्तर आना स्वाभाविक बात है, वहा देखने के साधनो के अन्तर से भी अन्तर हो जाता है। इस प्रकार देखने - सोचने की यह प्रक्रिया [द्रष्टा, दृश्य, देखने के साधन और देखने पर बनी राय के भेद से चार रूपो मे बंटी हुई है। इसी को दर्शन के शब्दों मे प्रमाता प्रमेय, प्रमाण और प्रमा [प्रमिति के नाम से स्मरण करते है। इन शब्दों मे दर्शन शब्द का अर्थ ज्ञान प्रतीत होता है।

अंग्रेजी भाषा में दर्शन के लिए फिलासफी शब्द आता है, जिस का अर्थ है - ज्ञान के प्रति प्रेम अनुराग। वेदान्त और मीमासा दर्शन क्रमश: ब्रह्म तथा धर्म की जिज्ञासा [ – जानने की इच्छा ] से प्रारम्भ होते हैं[२]।

जिज्ञासा सोच के स्तर से इसके तीन रूप है, जैसे कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन अत एव हम पहले किसी से कुछ सुनते हैं, फिर उस पर विचार करते हैं और अन्त मे उसकी सच्चाई को स्पष्ट करना चाहते है। अर्थात् दर्शन की प्रक्रिया मुख्य रूप से इन स्तरों से जुड़ी हुई है।

---

१– क्योंकि [घृत-तैल–तण्डुल–लवण–शाकेन्धन–वसन चिन्तयाऽनुदिनम्। विपुलमतेरपि पुंसो नश्यति धीर्मन्द–विभवत्वात्॥

चाणक्यराजनीतिशास्त्र–३,५४]

इन्ही सांसारिक चिन्ताओं, जरूरतों में ही अधिकतर व्यक्ति उलझे रह जाते है।

२– अथा तो ब्रह्म जिज्ञासा॥ वेदान्त ।,।,। अथा तो धर्म जिज्ञासा। मीमांसा ।,।,।

अधिकतर दर्शन शब्द अध्यात्म अर्थ मे लिया जाता है, अर्थात् आत्मा सम्बन्धी सोच[1]। सभी दर्शनो में किसी न किसी रूप मे आत्मा की चर्चा प्राप्त होती है। साहित्य मे आत्मा शब्द अनेक अर्थों मे आया है। वैसे दर्शनो मे विशेष रूप से परमात्मा जीवात्मा जगत, शरीर तथा इन से सम्बन्धित विषयो की ही चर्चा मिलती है। आत्मा शब्द परमात्मा और जीवात्मा दोनो के लिए प्रमुख रूप से आता है। परमात्मा-ब्रह्माण्ड मे और जीवात्मा विशेषतः पिण्ड [शरीर] मे व्याप्त, पूर्ण है। अत एव इन दोनों को पुरुष[2] शब्द से भी पुकारा गया है, क्योकि ये दोनों अपने-अपने रूप में पूर्ण, व्याप्त, अधिष्ठाता, व्यवस्थापक हैं। अनेकत्र आत्मा शब्द से अधिकतर जीवात्मा का ग्रहण किया जाता है, क्योकि अपने आप को प्रथम समझ लेने पर परमात्मा को समझना सरल और सार्थक हो सकता है।

प्राचीन भारतीय दर्शनों मे यह सारी चर्चा वेद के आधार पर ही आरम्भ हुई है। अतएव ये अपने विषय की पुष्टि के लिए श्रुति [वेद] की ओर सकेत करते हैं। अर्थात् वे वेद को परम प्रमाण मानते है। वेद को परम प्रमाण मानने से ही ये वैदिक दर्शन कहलाते हैं और वे है- वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य, मीमांसा तथा वेदान्त वेद एव वैदिक वाङ्मय को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक, जैन, बौद्ध अवैदिक कहलाते हैं और इन तीनो प्रादुर्भाव अपने से पूर्ववर्ती कुछ विचारों से मतभेद के कारण ही हुआ है। पाश्चात्य देशों में प्रादुर्भूत दर्शन को पाश्चात्य दर्शन कहा जाता है।

**दर्शन की प्रक्रिया**– प्रत्येक देखने, सोचने, समझने और समझाने वाला स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता है। वह पहले मोटी-मोटी बातों को समझ-समझा कर, उनके आधार पर सूक्ष्म रहस्यों का विचार सामने लाता है। अतः दर्शन का प्राथमिक अर्थ है– देखना और बाहर की आंखों से हम पहले आकार–प्रकार वाली चीजो को दखते है, फिर अन्दर की आंख [अन्तःकरण] से सोचते हैं। इस प्रकार जीवन की गुत्थियों या जिज्ञासाओं को समझने का हम प्रयास करते हैं। इसी को शास्त्रकार, श्रवण-मनन-निदिध्यासन शब्दो से स्पष्ट करते हैं[3]। ससारी व्यवहार में भी सर्वत्र यही प्रक्रिया प्रचलित है, और यही क्रम इन दर्शनों मे भी अपनाया गया। कहीं-कहीं दर्शन के लिए तर्क शब्द भी प्रयुक्त हुआ है[4] और तर्क मे भी स्पष्ट से अस्पष्ट को समुपस्थित किया

---

१– आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानाद् हर्ष शोकौ व्युदस्यति शुक्रनीति १,१५८
२– पुरुषः पुरिषदः पुरिशयः, पूरयतेर्वा पुरयत्यन्तरित्यन्तर पुरुषमभिप्रेत्य निरक्त २,१
३– आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च। वृहदारण्यक उप २,४
श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सतत ध्येय एते दर्शनहेतवः॥
४– आन्वीक्षिक्यां तर्कशास्त्रम् शुक्रनीति। १,१५३

जाता है। न्याय दर्शन मे निर्दिष्ट तर्क की परिभाषा विज्ञान की प्रक्रिया का स्मरण करार्ता है[1]।

**वैशेषिक**– विषय बोध की दृष्टि से वैदिक दर्शनों मे प्रथम वैशेपिक दर्शन आता हे। जिसके कर्ता कणाद महर्षि है। इस दर्शन को प्राचीन भौतिक शास्त्र भी कह सकते है। इस मे द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय नामक पदार्थों का वर्णन, विश्लेषण है। इन मे से मुख्य द्रव्य ही हैं, क्योंकि इसके आधार पर ही अन्यो की स्थिति तथा विवेचना सम्भव होती है। इस दर्शन में मन, आत्मा, विद्या, अविद्या काल दिशा का भी विवेचन है, पर यहा विशेष रूप से पृथिवी, जल, अग्नि [तेज] वायु आकाश और इन सबके गुणों तथा कर्मों का विस्तार से वर्णन है। इन पांचों का सांझा नाम भूत है यतोहि व्यावहारिक स्तर पर इन की सत्ता [भू] साधी जा सकती है। इनमे से प्रथम तीन तो आंखो से स्पष्ट देखे जाते हैं, अत. कुछ अश मे यहा दर्शन का देखना अर्थ भी चरितार्थ हो जाता है। पांचों भूत और इन से बनी हुई वस्तुए ही विशेष रूप से हमारे व्यवहार में आती हैं। अत एव इन सब को विशेष कहते है और इसी से तद्धित में वैशेषिक शब्द बना है। सांख्य योगशास्त्र आदि मे भी इन पाचों भूतो के लिए विशेष शब्द का प्रयोग मिलता है। वैशेषिक दर्शन का आरम्भ अथातो धर्म व्याख्यास्यामः से होता है। यहां धर्म शब्द का अर्थ स्वभाव है, इस दर्शन में प्रयुक्त साधर्म्य, वैधर्म्य शब्दो से भी इस की पुष्टि होती है। जैसे कि अग्नि का धर्म प्रकाश जलाना आदि है और आज के भौतिक शास्त्री भी उर्जा आदि गुणो, धर्मो के अन्वेषण मे ही निरत हैं।

**न्याय**—प्रमाणों [जानने, समझने के साधन] से किसी निर्णय या निर्णय की प्रक्रिया को न्याय कहते हैं[2]। न्याय दर्शन में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदि सोलह पदार्थों का वर्णन किया गया है। हम कुछ बातों का निर्णय जहां प्रत्यक्ष से करते है, तो वहा

---

१– अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थ मूहस्तर्कः। १ १.४० — किसी अर्थ कार्य, बात का जब तत्त्व ज्ञात नही होता (पर जानना चाहते है), तब उस मे कारण के जचाव से तत्त्वज्ञान के लिए जो युक्ति, विचार-विमर्श होता है, वही तर्क है। वात्स्यायन मुनि ने इस सूत्र के भाष्य में लिखा है—
अविज्ञायमानतत्त्वेऽर्थे जिज्ञासा तावज्जायते जानीयेममर्थमिति। अथ जिज्ञासितस्य वस्तुनो व्याहतौ धर्मौ विभागेन विमृशति किंस्विदित्थ महोस्विन्नेत्थमिति। विमृश्यमानयो र्धर्मयोरेकं कारणोपपत्त्याऽनुजानाति सम्भवत्यस्मिन् कारण प्रमाणं हेतुरिति कारणोपपत्त्या स्यादेवमेतन्नेतरदिति।

२– प्रमाणैरर्थस्य प्रीक्षणं न्यायः

कुछ का अनुमान से और कुछ बातो का पता शब्द [शास्त्र] से लगता है। निर्णय में सहायक बनने वाले तर्क तथा अनुमान के अगभूत पचावयव भी कहीं-कहीं न्याय दर्शन के पयार्य रूप में प्रयुक्त हुए है।

प्रमाणो से जिन का पता, ज्ञान किया जाता है, वे प्रमेय कहलाते हैं। निर्णय सदा सन्देह उठने या जिज्ञासा पर दृष्टान्त आदि से किया जाता है। न्याय दर्शन में निर्णय की प्रक्रिया का ही जहां विशेष विचार है, वहा प्रमेय के रूप में आत्मा, शरीर, पाच भूतों आदि का वर्णन किया गया है। इस न्याय दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम हैं।
**सांख्य**— सांख्य के निर्माता महर्षि कपिल हैं। इस दर्शन को प्राचीन रसायन शास्त्र भी कह सकते हैं, क्योंकि पृथिवी आदि पांच भूत तथा इन से बनने वाले पदार्थ किस मूलतत्त्व से किन परिस्थितियों में परिणत हो कर यहां तक पहुंचे हैं, इसका विचार ही इस दर्शन का प्रतिपाद्य हैं। सांख्य का अर्थ जहां [प्रकृति-पुरुष का] सम्यक्ज्ञान है, वहां यह संख्या का तद्धित रूप होने से संख्या अर्थ में भी आता है। यहा उन पच्चीस तत्त्वों की गणना वर्णन है, जिन का परिणाम रूप ही यह सारा संसार है।

**योग**— योगदर्शन के रचयिता पतञ्जलि महामुनि है। सामान्यत: योग शब्द जोड़ के अर्थ में आता है। जैसे कि गणित की एक प्रक्रिया है और चिकित्सा के क्षेत्र मे भी विधि-के योग से औषध तैयार की जाती है। इसी अर्थ के आधार पर ईश्वर-जीव के योग [दर्शन की प्रक्रिया] को इस शास्त्र का लक्ष्य आदिष्ट किया जाता है। योग दर्शन में योग शब्द विशेष रूप से समाधि, एकाग्रता के रूप मे उपदिष्ट है। अत एव वहां चित्त की पांचों वृत्तियो के स्वरूप के साथ उनके निरोध के अनेक उपाय बताए गए है। साधको के भेद से इसको तीन रूपो मे समझाया गया है।

विशेष निरुद्ध मध्यम [एकाग्र] और सामान्य [विक्षिप्त] रूप मे परिगणित साधको की दृष्टि से यह चर्चा है समाधिपाद मे प्रतिपादित प्रक्रिया विशेष साधकों के लिए है। तदनन्तर २,१ मे आया [तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि] क्रिया योग मध्यमस्थिति के साधकार्थं है और अष्टाग वाला विस्तृत वर्णन सामान्य स्थिति के साधकों के लिए सरल पथ है। योगदर्शन का समालोचनात्मक अध्ययन करने से भी यह बात स्पष्ट होती है, कि योग की प्रक्रिया के द्वारा **आत्मानुभूति** होती है। तभी तो वहां तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् १.३ अर्थात जब योगविधि के अनुष्ठान से चित्त की वृत्तियां निरुद्ध हो जाती है, तब चित्त का द्रष्टा-जीवात्मा का अपने स्वरुप में टिकाव होता है। द्रष्टा, दृश्य शब्दो का योगकार ने विवेचन किया है। वहा जीव के अर्थ में ही द्रष्टा शब्द निर्दिष्ट है। योग के चतुर्थ पाद का नाम कैवल्य है, कैवल्य शब्द केवल की स्थिति से तद्धित में बनता है अर्थात अकेलेपन की [प्रकृति रहित] स्थिति

तभी तो लिखा है— 'पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः ।

**मीमांसा**— वैदिक वाङ्मय में मीमांसा शब्द दो दर्शनो के साथ सयुक्त होता है । अत एव पूर्व मीमांसा तथा उत्तरमीमांसा के नाम से उन को क्रमश. स्मरण किया जाता है और कुछ इन दोनों के अध्यायों की गणना समवेत रूप में करते हैं । इन दोनों का समारम्भ जिज्ञासा से है । जैमिनि दर्शन धर्म की जिज्ञासा का समाधान करता है, तो वेदव्यास का वेदान्त ब्रह्मजिज्ञासा को शान्त करता है । इन दोनों की विश्लेषण प्रक्रिया भी एक समान है । अतः मीमांसा शब्द यहां उधेड़-बुन, विश्लेषण. विवेचन अर्थ में है, तभी तो इसको वाक्य विद्या का आकार ग्रन्थ कहा गया है । जैसे एक यन्त्र को ठीक करने वाला यन्त्र के पुर्जों को खोलकर गड़बड़ का प्रथम बोध करता है, पुनः उसको ठीक करके यन्त्र की संगति लगाता है। ऐसे ही मीमासा मे अपने उपजीव्य शास्त्र के वाक्यों का विश्लेषण करके प्रकरण, लिङ्ग आदि के आधार पर सगति दर्शाई जाती है[1] ।

वैदिक वाङ्मय में वेदों के पश्चात् ब्राह्मणो का क्रम है । आरण्यक ब्राह्मणो के ही भाग हैं । इस के अनन्तर उपनिषदों की परिगणना है । वेद ईश्वरीय नित्य ज्ञान होने से उनके व्याख्यान रूप ब्राह्मण रचना काल की दृष्टि से पूर्ववर्ती है तो उपनिषद उत्तरवर्ती । पूर्व मीमांसा का अत. ब्राह्मणों के वाक्यों से सम्बन्ध है, तो वेदान्त में उपनिषद वाक्यों की मीमांसा है । धार्मिक कर्मकाण्ड रूपी यज्ञ ही ब्राह्मण ग्रन्थों तथा पूर्व मीमांसा दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य है, तो ब्रह्म उपनिषदो और वेदान्त का मुख्य विवेच्य विषय है । वेदों में मुख्य रूप से इन दोनों विषयो की विवेचना है । अतः वेदों के व्याख्यानभूत ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में इन दोनो को अपना - अपना व्याख्यात तत्त्व बनाया है ।

पूर्व मीमासा मे वेद प्रतिपादित धर्म=कर्म=यज्ञ की प्रक्रिया को प्रतिपादित करने के लिए ब्राह्मणों के परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले वाक्यो की मीमासा करके सगति दर्शाई है । वेदान्त के प्रथम सूत्र में ब्रह्म को जानने की इच्छा प्रकट की है[2] । इसके समाधान रूप में दूसरे सूत्र[3] में कहा है, कि इस दृश्य - अदृश्य संसार का जन्म संचालन, सहार जिसके निमित्त से होता है, वही ब्रह्म है । तृतीय सुत्र का भाव है, कि ब्रह्म जहा जगत का कर्त्ता, धर्त्ता, सहर्त्ता है वहां वह वेद शास्त्र का प्रकाशक भी है

१— श्रुति–लिङ्ग–वाक्य - प्रकरणतस्थान - समाख्या भेदेन षट् प्रमाणानि ।

२— अथातो ब्रह्मजिज्ञासा

३— जन्माद्यस्य यतः ।

तथा सारे शास्त्र भी ब्रह्म को ही जगतकर्ता आदि रूप में प्रतिपादित करते हैं[1] । इन दोनों अर्थों के आधार पर चतुर्थ सूत्र में कहा है – वह कर्ता अपने कार्य में कला के रूप में सर्वत्र समन्वित है या सारे शास्त्रों में सर्वत्र जगत्कर्ता रूप में ब्रह्म ही समर्थित है[2] । इस भूमिका के पश्चात बड़े विस्तार के साथ अग्रिम सूत्रों में दर्शाया है, कि उपनिषद् आदि में जहां - कहीं प्राण, अन्न, आत्मा, आकाश आदि शब्दों से रचियता का निर्देश है । वहां - वहां इन शब्दों द्वारा तत्प्रकरणानुरूप भावबोधार्थ वह-वह शब्द ब्रह्म का ही वाचक है, क्योंकि यह जगत उत्पादन, धारण आदि की क्रिया ब्रह्म के माध्यम से ही सम्पन्न हो सकती है । जब शास्त्रों में सर्वत्र निर्दिष्ट क्रिया एक ही है, तो उसका कर्त्ता भी सर्वत्र एक ही आदिष्ट होना चाहिए । तत्तत्स्थलों के विश्लेषणों से भी यही परिपुष्ट होता है, क्योंकि वे विशेषण ब्रह्म में ही चरितार्थ होते है ।

---

१— शास्त्र योनित्वात् ।

२ — तत्तु समन्वयात् ।

# धर्म का तत्व अर्थात धर्म क्या है ?

—श्री स्वामी वेदमुनि परिव्राजक
अध्यक्ष-वैदिक संस्थान, नजीबाबाद [उ० प्र०]

प्राचीन ऋषियों का मत है "धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्" अर्थात धर्म का तत्व गुहा (गहराई) में छिपा है। अभिप्राय यह है कि धर्म क्या है ? यह अत्यन्त गूढ़ रहस्य है। धर्म की परिभाषा और उसकी व्याख्या सरल कार्य नहीं है। परन्तु आजकल जिसे देखो वही धर्माचार्य है, वही धर्म पर लम्बे-लम्बे भाषण कर रहा है।

धर्म के नाम पर बड़े-बड़े मठ-मन्दिर, विशालकाय आश्रम, गुरुद्वारे मस्जिद गिरजे आदि खड़े मिलेंगे। प्रकाशकों की दुकानों और पुस्तकालयों में धर्म के बड़े-बड़े पोथे मिलेंगे तथा संसार में अनेक मत और पन्थ मिलेंगे और इन सबकी पृथक्-पृथक् धर्म की परिभाषायें मिलेंगी। जिज्ञासु के सामने प्रश्न आता है कि अन्ततोगत्वा धर्म क्या है ?

प्रत्येक दुकानदार जैसे अपनी दुकान के सामान को उत्तम और अन्य दुकानों की सामग्री को घटिया बताता है, चाहे उसकी दुकान की सामग्री से अन्य दुकानों की सामग्री सहस्र गुणा अच्छी हो और उसकी एकदम निकृष्ट। ठीक यही दशा धर्म के नाम पर प्रचलित मत-मतान्तर की है।

हमारा उद्देश्य इन पंक्तियों मे किसी मत विशेष की आलोचना करना नहीं है अपितु केवल धर्म की वास्तविकता पर पहुंचने के लिए हम थोड़ी ऊहा-पोह करना चाहते हैं।

सँसार में धर्म के नाम पर अनेक विचार धारायें प्रचलित हैं अथवा यों कहिये कि विश्व में अनेक धार्मिक मत प्रचलित हैं। इन सभी मतों में सब कुछ समान नहीं है। सब कुछ समान हो एक जैसा हो, तो अनेकता रहती ही नहीं। मतभेद न हो तो मेरा-तेरा का प्रश्न ही नहीं रह जाता है। पृथक्-पृथक् रहते हुए भी कुछ बातें सब मतों में ठीक है। कुछ बाते तो प्रत्येक मत में ऐसी हैं कि जिनमें अच्छाई निहित हैं, बुराई नही किन्तु उनकी वह अच्छाई भी इस इस अर्थ में बुराई बनी हुई है कि वह अनेकता बनाये रखती है मानव-मानव को एक नहीं होने देती अर्थात् समस्त मनुष्यों को एकता के सूत्र में नहीं बंधने देती।

कुछ बाते प्रत्येक मत में ऐसी हैं, जो संसार के अन्य सभी मतों के विरुद्ध हैं। परिणाम स्वरुप संसार का प्रत्येक मत अन्य सभी मतों के विरुद्ध है और सभी मतों के

मानने वाले अन्य मतवादियों को अपना विरोधी ही नहीं अपितु शत्रु समझते हैं और इसी कारण संसार में धर्म के नाम पर विभिन्न मतवादियों के मध्य समय-समय पर झगडे होते रहते हैं, जिनमें भीषण रक्तपात तक हो जाता है।

इन परिस्थितियों को देखकर कभी - कभी इतनी खिन्नता होती है कि मनुष्य धर्म के नाम से ही घृणा करने लग जाता है और साधारण बुद्धि के लोग धर्म के विरुद्ध हो जाते हैं। लोग सोचने लगते हैं कि जिससे मानव - मानव के रक्त का प्यासा हो जाय, जिससे मानव की मानवता का पशुकरण ही नहीं अपितु राक्षसीकरण होता है, ऐसे धर्म की संसार को क्या आवश्यकता है ? ऐसे धर्म से संसार को क्या लाभ ? क्यों न ऐसे धर्म को ही संसार से विदा कर दिया जाय ?

बात है भी ठीक, जो धर्म मानवता का अभिशाप हो—साधारण बुद्धि का ही सही—कोई भला व्यक्ति, कोई सत्पुरुष ऐसे धर्म को क्यों पसन्द करेगा ? ऐसी दशा में यदि लोग धर्म को नशा अथवा अफीम कहने लग जाये तो आश्चर्य ही क्या है ? परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या यह समस्या का वास्तविक निदान है ? और क्या यही इस रोग की वास्तविक चिकित्सा है।

तथ्य यह है कि जब तक रोग का ठीक निदान नहीं होता तब तक उसकी ठीक चिकित्सा भी नहीं हो सकती, ठीक चिकित्सा के लिये निदान का ठीक होना अत्यन्त आवश्यक है। रोगी को बचाने के लिये ठीक चिकित्सा होनी चाहिये और ठीक चिकित्सा के लिये ठीक निदान होना चाहिये।

मानव रोगी है। न केवल मानव अपितु सम्पूर्ण मानव समाज। रोग है धर्म का। चिकित्सक के पास जाता है रोगी और कहता है – वैद्य जी मैं बीमार हूं मेरी चिकित्सा कीजिये। वैद्य जी पूछते है बीमारी क्या है आपको। रोगी कहता है, धर्म की। वैद्य जी कहते है, अच्छा तो आप नित्य प्रात उठकर हनुमान मन्दिर में जाकर फूल चढ़ाया करो और घर पर नित्य हनुमान चालीसा का पाठ किया करो।

इसी प्रकार कोई शिव—मन्दिर मे फूल चढ़ाने और शिवस्तोत्र के पाठ की बात बताता है तो कोई दुर्गापाठ की। कोई पांच समय काबे की ओर मुंह करके नमाज और वर्ष में एक मास रोजा रखने की औषधि लिख देता है तो कोई नित्य प्रति गिरजाघर की प्रार्थना मे सम्मिलित होने की। कोई "अहिंसा परमो धर्म." का सूत्र लिखकर नित्य जैन मन्दिर मे दर्शनार्थ जाने की औषधि देता है तो कोई गुरुद्वारे का द्वार खटखटाने की।

रोगी, धर्म का रोगी उक्त स्थानों के चक्कर काटते - काटते और उक्त औषधि

तन्त्र को रटते-रटते मृत्यु शय्या पर आ पहुंचता हैं परन्तु अपने और अपनी विचारधारा की मान्यता वाले व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य सबको—चाहे वह आचरण में कितने ही पवित्र और नैतिक मूल्यों का पालन करने वाले हों—नीच, घृणास्पद, नरक-गामी और यहां तक कि वध कर दिये जाने योग्य तक मानता रहता है।

'ऐसे ही कन्धा घर रहे, ऐसे ही रहे विदेश" वाली लोकोक्ति चरितार्थ होती है। चाहे इस मत में रहे या उसमें—रहे मतवादी ही, धर्मात्मा नही बन सके। कारण स्पष्ट है कि जिन चिकित्सकों के पास गये, वह सब "नीम हकीम" अर्थात् अधूरे चिकित्सक थे। उन्हें निदान आता ही नही था, रोगी के रोग का क्या निदान करते। वह तो बीमारियों को ही औषधि समझे बैठे थे। प्रत्येक चिकित्सक के पास से रोगी को पूर्व की अपेक्षा नयी औषधि दे दी जाती है, रोगी उस सेवन करता है परन्तु रोग ज्यों का त्यों। कारण वही है कि औषधि नही अपितु नये रोग का तन्त्र रोगी के हाथ में आ जाता है। एक रोग से मुक्त हुआ-दूसरे मे जा फंसा। यह रोग मुक्ति, रोग-निवारण है अथवा रोग परिवर्तन व रोग का नवीनीकरण।

हकीम और वैद्य यकसां हैं, अगर तशखीश अच्छी हो।<br>हमें मेहत से मतलब है, बनफांस हो या तुलसी हो॥

हमें—मनुष्यों को—रोग की चिकित्सा की आवश्यकता है, रोग का नवीनीकरण नही चाहिये। हम चिकित्सा द्वारा रोग मुक्त होना चाहते है, किसी नये रोग से पीड़ित नही होना चाहते। चिकित्सा चाहे हमारी वैद्य करे या हकीम, होम्योपैथ करे अथवा एलोपैथ और या नेचरोपैथ (प्राकृतिक चिकित्सक) हमें किसी विशेष चिकित्सा पद्धति से मोह नहीं। चाहे बनफांस हो या तुलसी, चिकित्सा भी चाहे किसी पद्धति से कर लो, परन्तु रोग को समूल नष्ट करो। "न रहे बांस न बजे बांसुरी" न रोग रहे न छुआछूत और घृणा।

जब तक यह रोग (धर्म-रोग) रहेगा, तब तक यह धार्मिक घृणा द्वेष और ऊंच-नीच का भेद-भाव बना रहेगा और जिस दिन यह रोग मिटा तो इसके लक्षण घृणा-द्वेष और ऊंच-नीच के भेद भी बने न रहेंगे। यह लक्षण हैं रोग नही। रोग तो मन में है, विकारों में निहित है। यदि मानव-मन का मैल धुल जाय यदि विचारों की शुद्धि हो जाय तो इन सभी तथाकथित रोगों परन्तु वास्तव में रोग के लक्षणों से छुटकारा मिल जाय।

मानव-मन के मैल को छुड़ाने को कहिये अथवा धार्मिक रोग से मानव की मुक्ति का कह लीजिये—केवल मात्र एक ही उपाय है और वह यह कि मानव को धर्म के लक्षणों का पता नहीं अतः धर्म के नाम पर वह हैं बहक जाते हैं और कभी

इस मत में तो कभी उस मत में धक्के खाते और जीवन नष्ट करते हुए फिरते रहते हैं। यदि लोगों को धर्म के लक्षणों की जानकारी हो जाय तो वह मतवादियों के चङ्गुल मे नही फसे।

इतना तो हम पूर्ण दायित्व के साथ कह सकते हैं कि संसार के वर्तमान मतों मे एक भी ऐसा नही है, जो धर्म के लक्षणों पर पूरा उतर सके या धर्म कहलाने का अधिकारी हो, यद्यपि सभी अपने को धर्म घोषित करते हैं। हां, धर्म की कुछ न कुछ बाते इन सभी मतों में हैं, किसी में न्यून और किसी में कुछ अधिक और इसीलिये यह ससार में जीवित भी है, ठीक उसी प्रकार—जिस प्रकार प्रकाश तो मिट्टी के तेल की कुप्पी भी देती है और सरसो के तेल का दीपक भी। गैस के लैम्प भी प्रकाश देते हैं और बिजली लैम्प भी। इन सब में प्रकाश है और सभी प्रकाश न्यूनाधिक देते भी हैं, किन्तु सूर्य की अनुपस्थिति मे। जब आकाश में सूर्य देदीप्यमान हो रहा होता है तो इनमे से किसी की भी आवश्यकता नहीं रहती और न इनका प्रकाश किसी को प्रकाशित ही कर पाता है। इनका प्रभाव तो अन्धकार में ही होता है, तभी यह प्रकाश दे पाते हैं और वह भी साधारण सा, धुंधला तथा अतीव सीमित क्षेत्र मे।

अग्नि प्रकाश का पुञ्ज है। प्रकाश अग्नि का गुण है अत: जहा-जहा प्रकाश है, वहां-वहां अग्नि है। हाँ, अग्नि की जहां जितनी शक्ति है, वहां उतना ही वह प्रकाश दे पाता है। सूर्य अग्नि का भण्डार है अतएव उसका प्रकाश भी अत्यन्त प्रबल है, अति तीव्र है। यही कारण है कि अन्य सभी प्रकाश उसके सामने मन्द पड़ जाते है।

यही स्थिति धर्म की है। धर्म का प्रकाश अति तीव्र है, उसके प्रकाश के सामने मत-मतान्तरों के दीपक स्वयं ही मन्द पड़ जायेंगे उनका एक प्रकार से विलीनीकरण हो जावेगा, यदि धर्म का सूर्य उदय हो जाय। नितान्त बुद्धिहीन की बात नही कही जा सकती किन्तु साधारण-सी स्वल्प बुद्धि रखने वाला व्यक्ति भी धर्म का प्रकाश पाते ही मन्द-मन्द टिमटिमाने वाले मत-मतान्तरो के क्षुद्र दीपकों को तुरन्त त्याग देगा, किन्तु उसे धर्म के सूर्य का प्रकाश मिले तो सही।

प्रश्न फिर घूम - फिर कर वही उपस्थित है कि अन्ततोगत्वा धर्म का कुछ अता-पता भी है। उसका कोई ठौर-ठिकाना भी है। उसे जानने वाला और उसका बताने वाला भी कोई है तथा उसका स्वरूप, लक्षण, परिभाषा आदि क्या है। इसके लिये चिन्तित होने की कोई बात नहीं। यह ठीक है कि आप बहुत भटके हैं और अपने धर्म के नाम पर अनेक विचारों को सुना है किन्तु उन सब मे परस्पर विरोध और भिन्नता ही पायी है, परन्तु वास्तविकता यह है कि वह सब मत - पन्थ या मजहब ही है, धर्म नहीं।

धर्म का ठौर–ठिकाना और अता – पता है ऋषियों के पास, ऋषि–कृत ग्रन्थों में। धर्म के वास्तविक व्याख्याता ही ऋषि है। धर्म का विधान करने की योग्यता मनुष्य में (सामान्य–जन) में नही होती, यह योग्यता तो ऋषियों में ही होती है। साधारण जन में धर्म–विधान का निर्माण करने धर्म का स्वरुप निश्चित करने की योग्यता होती तो ऋषियो को उसके लिये प्रयत्न न करना पड़ता। सर्व साधारण तो परिस्थितियों मे बहक कर धर्म विरूद्ध आचरण कर बैठता है। वह बहकने से, पथ–भ्रष्ट होने से बचे इसीलिये तो ऋषियों ने धर्म का विधान किया है। किया है सर्व साधारण के लिये – ऋषियों के लिये, धर्म - विधान निर्माण करने की आवश्यकता नहीं थी। कारण कि ऋषि तो स्वयं ही धर्म के साक्षात्कर्ता होते हैं। "साक्षात्कृत धर्मा ऋषिः" ऋषि कहते ही साक्षात्कृत धर्मा को हैं। अपने उसी साक्षात् किये हुए धर्म का व्यक्ति, परिवार और समाज—सबके लिये उपदेश किया है ऋषि ने। वही उपदेश आज भी संसार में मानव–धर्मशास्त्र तथा मनुस्मृति के नाम से प्रसिद्ध है। इन वर्तमान धर्म के नाम पर प्रचलित मतवादों के विषय में तो यही कहा जा सकता है कि—

हिन्दु भी है, मुस्लिम भी हैं, इन्सान नहीं है।
मन्दिर भी है, मस्जिद भी है, ईमान नही है॥

जब ईमान नैतिकता नही है तो इन्सान कहा से हो। इन्सान तो ईमान से ही बनता है। मन्दिर, मस्जिद, गिरजे तो हिन्दु, मुसलमान, ईसाई आदि ही बना सकते है, इन्सान नही बना सकते। इन्सान तो केवल वेद ही बनाता है, वही कहता है "मनुर्भव" अर्थात् मनुष्य बन। हिन्दु बन न मुसलमान, ईसाई बन न यहूदी बन केवल और केवल मात्र मनुष्य, इन्सान बन और इस इन्सान को इन्सान, मनुष्य को मनुष्य बनाये रखने के लिये महर्षि मनु ने मानव धर्म–शास्त्र का निर्माण किया। इस शास्त्र में जो कुछ भी है वह वेद का ही है, वेद ही उसका आधार है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय श्लोक १०८ में वर्णन है।

"आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च"

आचार परम् धर्म है श्रुति (वेद) में कहा है और स्मृति में भी कहा गया है। आचार क्या है। यह समझ लेना अत्यावश्यक है। आचार का सरल अर्थ है, जो आचरित किया जाना चाहिये, आचरण में, व्यवहार में, लाया जाना चाहिये। जो कुछ भी आचरण में लाया जाय, वह नहीं अपितु जो आचरण में लाना उपयुक्त, उचित है, वही आचार है। स्मृति के उक्त उद्धरण का अर्थ हुआ कि जो व्यवहार

करने योग्य हों वही परम धर्म है और वेद उसी का निर्देश करता है तथा स्मृति भी उसी का विवेचन प्रस्तुत करती है।

प्रश्न यह है कि स्मृति भी उसी का विवेचन क्यों करती है, जो वेद कहता है स्मृति और विशेषकर मनुस्मृति—वह तो भृगु मुनि प्रोक्त और महर्षि मनु प्रणीत है। ऋषि तो मन्त्र का द्रष्टा होता है, साक्षात्कृत धर्मा होता है। फिर वह स्वयं ही धर्म की विधि–व्यवस्था क्यों नहीं बना देता, श्रुति का आश्रय क्यों लेता है। श्रुति (वेद) में कहे हुए की ही विवेचना क्यों करता है।

जहां से प्रश्न उत्पन्न होता है, वहीं से उत्तर भी प्रारम्भ हो जाता है, केवल थोड़ा–सा ध्यान देने की बात है और वह यह कि ऋषि मन्त्र का द्रष्टा – देखने वाला है, कर्ता—रचयिता, निर्माता नहीं है और मन्त्र में से जो ज्ञान वह प्राप्त करता है, उसी का साक्षात् करके उसके धारण करने, आचरण में लाने वाले तत्वों का प्रत्यक्ष तथा व्यावहारिक स्वरूप स्मृति में प्रस्तुत कर देता है। मन्त्र संहिता (वेद) तो बीज ज्ञान का बीज प्रस्तुत करती है, उसका अध्यात्म की परीक्षण शाला समाधि में दर्शन और तत्पश्चात् साक्षात् करके ऋषि उसके तत्वों की विधि-व्यवस्था के रूप में जो करता है, वहीं स्मृति कहलाती है। इसलिये मनु महाराज स्वयं कहते हैं।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृति शीले च तद्विदाम् ।२।६।

वेद सम्पूर्ण (अखिल) धर्म का मूल है और उस (वेद) के जानने वालों की स्मृति तथा उनका शील भी धर्म का मूल है। कारण कि वेदवित् विद्वान् अर्थात् जिन्होंने वेद के न केवल मन्त्रार्थों का दर्शन ही किया है अपितु जिन्होंने वेद के विज्ञान का साक्षात्कार भी कर लिया, वेद के साथ–साथ अर्थात् वेद की ही भांति उनका शील (व्यवहार, आचरण) भी धर्म का मूल है।

कोई प्रश्न कर सकता कि ऋषि भी है मानव ही–भले ही उसने अपनी कठोर साधना से ऋषित्व प्राप्त कर लिया है, परन्तु है तो जीवात्मा और शरीर का मेल ही। परमात्मा तो सर्वज्ञ है तथा जीवात्मा है अल्पज्ञ—एतदर्थ अल्पज्ञता के कारण ऋषि से भी भूल होना तो सम्भव ही है। यदि कहीं किसी ऋषि के आचरण में अथवा उनके द्वारा प्रणीत स्मृति ग्रन्थ में वेद से विरोध या विरोधाभास प्रतीत हो तो उस समय किस प्रकार निर्णय किया जाय। इसके लिये महर्षि मनु स्वयं ही स्पष्ट घोषणा करते हैं—

धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ।२।

धर्म को जानने की इच्छा हो तो इसके लिये परम् प्रमाण श्रुति अर्थात् वेद है। मानव धर्म शास्त्र का प्रस्तोता स्वयं ही वेद को परम प्रमाण मानता हैं, अपनी कृति को नही, तब फिर किसी अन्य से ज्ञात करने जाने की आवश्यकता ही नहीं।

प्रमाण दो प्रकार के होते हैं, एक स्वतः प्रमाण और दूसरा परतः प्रमाण। स्वतः प्रमाण उसे कहते हैं, जो स्वयं पर आधारित हो अर्थात् जिसके लिये अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नही तथा परतः प्रमाण वह होता है, जो किसी दूसरे पर आधारित हो अर्थात् जब वह स्वतः प्रमाण से प्रमाणित हो जाय, तब उसे प्रमाण माना जाता है। जैसे सूर्य के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही, सूर्य स्वयं अपना प्रमाण है। सूर्य निकलता है तो उससे कोई नकार नही करता। ठीक इसी प्रकार वेद भी स्वतः प्रमाण है, अन्य स्मृति आदि ग्रन्थ वेद के अनुसार होने से ही प्रमाण कोटि मे आते हैं, वेद से विरोधी होने पर वह प्रमाण नही माने जाते। वेद से जो अनभिज्ञ हैं उनकी बात जाने दीजिये। जो वेद के विचारों के किसी भी विषय मे जानकर हो जाते हैं, वहं स्वयं ही वेद–भक्त हो जाते हैं, क्योंकि सूर्य की भांति वेद–ज्ञान का प्रकाश मिलते ही मन से उसे स्वीकार लेते हैं, वेद की विचार धारा के सम्मुख अन्य सभी विचारधारायें उसी प्रकार फीकी पड़ जाती है, जैसे सूर्य के सामने चन्द्रमा, अन्य नक्षत्र तथा मानव द्वारा प्रज्जवलित किये गये लैम्प, मिट्टी–दीप तथा विद्युत – प्रकाश आदि फीके पड़ जाते है, मन्द हो जाते हैं तथा लुप्त हो जाते हैं। परन्तु सामान्यतः तो—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥१।२।१२॥

वेद स्मृति, सत्पुरुषों का आचार और स्वयं को अच्छा लगने वाला व्यवहार यह चार साक्षात् धर्म के लक्षण कहे जाते हैं जो वेद मे निर्देश है, स्मृति मे जिसका विधान और विवेचन है, समाज के सम्मानित व्यक्ति ऋषि, मुनि तथा धर्म तत्वों के ज्ञाता है, जिस प्रकार का व्यवहार करते है और धर्म की जिज्ञासा रखने वाला व्यक्ति जिस प्रकार के व्यवहार को पसन्द करता है—यह चार प्रकार वह है, जिनसे धर्म का साक्षात् अर्थात् वास्तविक ज्ञान होता है।

समस्या यह है कि सर्व साधारण वेद को तो जानते नही, जान भी जायें तो समझते नही। स्मृति आदि शास्त्रों के विषय में भी नितान्त अनभिज्ञ हैं। जिनके आचरण अनुकरणीय होते हैं, ऐसे व्यक्ति प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध नहीं होते, ऐसे प्रमाण–कोटि के व्यक्ति तो अपवाद ही होते हैं और अल्पबुद्धि तथा ज्ञानहीन लोगों के मन को पसन्द आने वाली बात भी नहीं जंचती। कारण यह है कि स्व–बुद्धि और सूझ–बूझ के अनुसार ही उनकी पसन्द होगी। तब अधिक सम्भावना इसी बात की

रहेगी कि वह अनुचित मार्ग अपना बैठें तथा अनुचित कार्य करें, जो धर्म के विरुद्ध हों। ऐसे लोगों की पसन्द धर्मानुकूल होगी, यह न तो आशा ही की जा सकती है और न विश्वास ही। इस दृष्टि से महर्षि वेदव्यास के उपदेश को महाभारत से उद्धृत किया जाता है। उनका कहना है—

> श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
> आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अर्थ—धर्म के सर्वस्व को सुनो और सुनकर उसे धारण करो। जो व्यवहार आप किसी अन्य के द्वारा अपने साथ किया जाना पसन्द नहीं करते, वह अर्थात् उस प्रकार का व्यवहार आप भी किसी के साथ मत करो। इससे संक्षिप्त धर्म का सार धर्म का तत्व और क्या हो सकता है।

इतना सब जानने पर भी कुछ लोग यह कहेंगे कि जब कोई समस्या सम्मुख आती है, तब यह सब विचारने का समय कहां होता। तुरन्त प्रश्न उठे और उसी क्षण उत्तर भी तैयार मिले, इतने प्रत्युत्पन्नमति भी तो सब नहीं होते अतः धर्म की कुछ मुख्य-मुख्य धाराओं का ज्ञान तो हो ही जाना चाहिए। तो फिर सुनिये और कष्ट करके अंतः करण पर अंकित कर लीजिये उन्हीं महर्षि मनु के शब्दों मे—

> धृतिः क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
> धीर्विद्या सत्यम क्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥६।९२।

धृति=धैर्य धारण करना अर्थात् समस्या सामने आने पर विचलित न होना घबराना नहीं तथा गम्भीरता पूर्वक समय की चुनौती को स्वीकार कर समस्या को सुलझाना।

क्षमा=समर्थ होते हुए भी विरोधियों पर प्रहार न करना।

दम=दमन करना अर्थात् अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाना, मन में बुरे विचारों को स्थान न देना, आये भी तो उन्हें दबा देना अर्थात् मन को वश में रखना।

अस्तेयं=चोरी न करना। ऐसा नहीं कि चोरी को जीविका का माध्यम ही न बनाना अपितु बिना आज्ञा किसी की कोई वस्तु कदापि न लेना।

शौच=पवित्रता शारीरिक व मानसिक दोनों ही प्रकार की पवित्रता है। तन शुद्ध भी हो किन्तु मन में अशुद्धियां, अपवित्रतायें, गन्दे विचार घर किये हुए हों तो जीवन पवित्र नहीं बन सकता। वस्त्रों की पवित्रता भी अत्यन्त आवश्यक है. परन्तु मन की पवित्रता वस्त्रों और तन की पवित्रता से भी आवश्यक है।

इन्द्रिय निग्रह = इन्द्रियों को अपने विषयों अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय को उसके अपने विषय में भटकने, उसके लिये प्रयुक्त होने से रोकना अथवा इस प्रकार कह लीजिये कि इन्द्रियों का विषय सेवन के लिये प्रयोग न करना। यह इन्द्रिय समूह अत्यन्त बलवान् है इसे अतीव कठोरता पूर्वक विषय सेवन से रोकना होता है।

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमीपि कर्षति ।२।२१६।

अर्थात् इन्द्रियों का समूह बलवान् है, यह विद्वान् को भी आकर्षित कर लेता है, अपनी ओर खीच लेता है, साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है।

धी=बुद्धि, बुद्धि भी साधारण नहीं धारणावती। विषय के उपस्थित होने पर उसे तुरन्त समझ लेने वाली बुद्धि। ऐसी बुद्धि ही धैर्य धारण करने, समस्याओं के समाधान खोजने, धर्म के सूक्ष्म तत्वों तथा वेदादि शास्त्रों को समझने में समर्थ होती है।

विद्या=जिससे किसी पदार्थ के तत्व स्वरुप को, वास्तविक स्वरुप को ज्यों का त्यों, जैसा वह है जाना और समझा जा सके, उसे विद्या कहते हैं।

सत्य=जो बात जैसी है और जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही स्वीकार करना तथा प्रत्येक क्षेत्र में और प्रत्येक अवसर पर सत्य का ही व्यवहार करना।

अक्रोध=क्रोध न करना। क्रोध का अर्थ होता है, आवेश मे कुछ का कुछ असंयत और अनर्गल बकने लगना तथा अनुचित और अवैध कार्य कर बैठना। ऐसी स्थिति उत्पन्न न होने देना अक्रोध कहलाता है।

इस प्रकार यह धर्म के दस लक्षण महर्षि मनु के द्वारा निर्धारित किये हुए हैं। इन्हें जीवन में धारण करना चाहिये अर्थात् इसके अनुसार आचरण करना चाहिये। इनके विरुद्ध आचरण करना, धर्म का हनन करना, धर्म की हत्या करना कहलाता है। शास्त्र का मत है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

अर्थ—जो धर्म का हनन करता है, वह स्वयं मारा जाता है और जो धर्म की रक्षा करता है, वह स्वयं रक्षित रहता है। इस कारण से धर्म का हनन नहीं करना चाहिये क्योंकि मारा हुआ धर्म मानव को मार डालता है।

मनुष्य जिस–जिस अंश में धर्म के तत्वों का पालन करता है अर्थात् जितने धर्म के लक्षण उसमें हैं, उसके आचरण और व्यवहार में पाये जाते हैं, उतने ही अंश में वह धर्मात्मा है और धर्म के लक्षण जो उसमें नहीं पाये जाते अर्थात् धर्म के तत्वों का जिन अंशों में वह पालन नहीं करता, उतने अंश में वह अधर्मी, पापी है। जैसे अग्नि का गुण या लक्षण जलाना और प्रकाश देना है। जब तक यह लक्षण पाये जायेंगे, तब तक वह अग्नि कहलायेगी और जब अग्नि दाहकत्व और प्रकाश से रहित हो जायगी तो वह अग्नि नहीं रह जायेगी अपितु राख हो जायेगी अर्थात् जब तक अग्नि अपने धर्म दाहकत्व और प्रकाश को धारण किये रहती है, उनकी रक्षा किये रहती है, तब तक वह स्वयं भी रक्षित रहती है और जब वह अपने इन धर्मों का पालन–रक्षण नहीं करती, इनका हनन कर देती है, तब वह स्वयं भी मर जाती है।

यही दशा मानव की भी है। धर्म के आचरण से हटकर धर्म को तिलाञ्जलि देकर अथवा यों कह लीजिये की धर्म की हत्या करके मानव भी मृतक के समान हो जाता है। जिस में मानवता के तत्व ही नहीं, जिसमें मानवता के लक्षण, मानव-धर्म लक्षण नहीं पाये जाते वह तो जीते जी मृतक है। मानव तो तब तक है, जब तक उसमें मानवता के लक्षण पाये जायें। मानवता छोड़ी तो मनुष्य रूप में पशु – नरपशु – रह जाता है। एतदर्थमेव मानव के द्वारा मानवता के लक्षणों का त्याग अर्थात् धर्म का हनन नहीं होना चाहिये। हां, यह आवश्यक है कि धर्म के मर्म को, धर्म के रहस्य को भली-भांति समझ लेना चाहिये।

।शमित्योम्।

# "वैदिक काल में धार्मिक सहिष्णुता"

यह बात निर्विवाद है कि प्राचीन काल में आर्यों ने विश्व के विभिन्न भागों में विस्तृत होते हुए अपनी संस्कृति का प्रचार और प्रसार उन्मुक्त होकर किया। न केवल एशिया महाद्वीप बल्कि यूरोप द्वीप के सास्कृतिक विकास से आर्यों को योगदान का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। वेदो मे इसी आर्य संस्कृति का उद्घृत होना पाया गया है। भारतीय संस्कृति की सम्पूर्ण प्रेरणा वेद से ही प्राप्त होती है। भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य, कला विद्या एवं राजनीति की जड़े वेद मे ही पायी जाती है[1]।

वैदिक ग्रन्थ हमारे लिये वैदिक काल के धार्मिक विचारों और उनका अध्ययन करना सम्भव बनाते हैं। वैदिक धर्म भारतीय धार्मिक विश्वासो की सबसे प्राचीन पद्धति है। वैदिक ग्रन्थों का निर्माण करने वाले ऋषि धार्मिक व दार्शनिक वृत्ति से ओत-प्रोत थे तथा उन्होने धार्मिक उद्देश्य से प्रेरित होकर ही उक्त साहित्य का निर्माण किया। अतएव वैदिक साहित्य मे तत्कालीन धार्मिक सिद्धान्तो का प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक ही है।

वैदिक काल मे आर्यों का धर्म बहुत सरल था। जैसा कि विश्वास किया जाता है कि धर्म और देवताओं की पूजा की भावना का प्रादुर्भाव भय से ही हुआ परन्तु आर्य उनकी पूजा भय से नहीं वरन् श्रद्धा से करते थे लोगों की यह धारणा थी कि सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण ईश्वर के हाथो हुआ है तथा सर्व व्याप्त ब्रह्मज्योति प्राकृतिक रूप में निखरी हुयी है। प्रकृति की पूजा स्थूल न होकर लाक्षणिक रूप मे की जाती है। इस काल से पूर्व के सिन्धु घाटी के निवासी भी लगभग इसी प्रकार प्रकृति को पूजा करते थे। वे यह समझते थे कि इन्ही प्राकृतिक शक्तियो को पूजा करके ईश्वर को प्रसन्न किया जा सकता है। उनके उपास्य देवी देवताओं की सख्या बहुत बड़ी थी परन्तु वे एक असीम ईश्वरीय सत्ता में विश्वास रखते थे[2]।

वैदिक वाङ्मय प्रधानतया धर्मपरक है, अतः इस काल के धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध मे हमे बहुत विशद् रूप से परिचय मिलता है। वैदिक काल के आर्य विविध देवताओं की पूजा करते थे। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम आदि

---

१— डा० शिवदत्त ज्ञानी — वेदकालीन समाज पृ० २८

२— प्रो० उपेन्द्र ठाकुर -- प्राचीन भारत पृ० १५२–१५३

उनके देवता थे, जिन्हे तृप्त व सन्तुष्ट करने के लिये ही अनेक विधि विधानों का अनुसरण करते थे। ससार का स्रष्टा, पालक व संहर्ता एक ईश्वर है, यह विचार वैदिक आर्यों में भली भांति विद्यमान था। उनका कथन था कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्णा, गरुत्मान् मातरिश्वा, यम आदि सब एक ही सत्ता के विविध नाम हैं, और उस एक सत्ता को ही विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र आदि विभिन्न नामो से पुकारते है। सम्भवतः एक ईश्वर की यह कल्पना बाद में विकसित हुई, और प्रारम्भ मे आर्य प्रकृति की विविध शक्तियों को देवता के रूप में मानकर उन्ही की उपासना किया प्रकृति के हम अनेक शक्तियो को देखते हैं। वर्षा धूप सर्दी गरमी सब एक नियम से होती है। इन प्राकृतिक शक्तियो के कोई अधिष्ठातृ देवता भी होने चाहिये और इन देवताओ की पूजा द्वारा मनुष्य अपनी सुख-समृद्धि में वृद्धि कर सकता है यह विचार प्राचीन आर्यों में विद्यमान था। प्राकृतिक दशा को सम्मुख रखकर वैदिक देवताओं को तीन भागों में बांटा जा सकता है।

१— द्युलोक के देवता, यथा सूर्य, सविता, मित्र, पूषा, विष्णु, वरुण और मित्र
२— अन्तरिक्षस्थानीय देवता, यथा इन्द्र, वायु, मरुत और पर्जन्य।
३— पृथ्वीस्थानीय देवता, यथा अग्नि, सोम और पृथ्वी

द्यु-लोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथ्वी लोक के विभिन्न क्षेत्रों मे प्रकृति की जो शक्तियां दृष्टिगोचर होती है उन सबको देवता रूप मे मानकर वैदिक आर्यो ने उनकी स्तुति मे विविध सूक्तो व मन्त्रो का निर्माण किया।

अदिति, उषा, सरस्वती आदि के रूप मे वेदो मे अनेक देवियो का भी उल्लेख है और उनके स्तवन मे भी अनेक मन्त्रों का निर्माण किया गया है यद्यपि बहुसख्यक वैदिक देवी-देवता प्राकृतिक शक्तियो व सत्ताओ के मूर्त रुप है पर कतिपय देवता ऐसे भी है जिन्हे भावरुप समझा जा सकता है। मनुष्यों मे श्रद्धा मन्यु (क्रोध) आदि की भावनाऐं है उन्हे भी वेदो में दैवी रूप प्रदान किया गया[३]।

उपर्युक्त देवताओं में 'इन्द्र' प्रमुख देवता एव अत्यन्त पराक्रमी व शक्तिशाली था। वृत्र, शम्बर आदि कितने ही शत्रु राजाओ के इन्द्र द्वारा पराभूत किये जाने का वर्णण वेदों मे मिलता है। इन्द्र का एक अमानव रूप भी मिलता है—

---

३— सत्यकेतु विद्यालंकार भारतीय सस्कृति का विकास पृ० ७३-७४

यथा "वृष्वासमा अजनों विद्युतों दिव उररुवों अभितः सास्यृक्ष्य"[४] ।

अर्थात् इन्द्र विद्युतो को उत्पन्न करते हैं और जलो के प्रवाह् को आन्तरिक्ष से नीचे की ओर पृथ्वी की तरफ कर देते हैं ।"

इसी प्रकार अन्य देवताओं के स्वरूप को भी वेदों में दर्शाया गया हैं । वैदिककाल के लोग जिन देवताओं की स्तुति करते थे वेदों में उनकी संख्या ३३ कही गयी है–

यथा—"पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुश्वधमा वह मादयीद ।
यस्य त्रयास्त्रिंशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिता"[५] ।

परन्तु वेदों में ऐसे भी मन्त्र आये है जिनमें देवताओं की संख्या अधिक बतायी है । एक स्थल पर तो देवताओं की सख्या ३३३९ कही गयी है–

यथा—त्रीणि शता त्रीससस्त्राण्यग्नि त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्[६]

**एकेश्वरवाद:**– वैदिक काल में जब इस प्रकार बहुदेववाद का बोलबाला हुआ तो वही पर यह भी स्पष्ट होता है कि सर्वोच्च देवता की कल्पना की गयी तथा पहले देवताओ के वर्ग एवं उसके उपरान्त एकेश्वरवाद की परिकल्पना की गई । ऋग्वेद में एक स्थल पर इसका स्पष्ट उदाहरण मिलता है ।

यथा—एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति । अग्निं यमं मातरिश्वानमाहु[७]:

अर्थात् "सत् एक ही है जिसे विद्वान् अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित करते हैं ।

इस प्रकार बहुदेववाद से एकदेववाद या एकेश्वरवाद की प्रकृति का विकास हुआ प्रारम्भ में इन्द्र का प्राधान्य रहा । कालान्तर में सभी देवताओं को एक में समेट कर विश्वेदेव: की कल्पना की गई और उसे सर्वोपरि माना गया इस मूलतत्व की धारणा

---

४— ऋग्वेद– २-१३-७
५— अथर्वद– १०-७-१३
६— ऋग्वेद– ३-९-९
७— ऋग्वेद

दो रूपों में मिलती–सर्वेश्वरवाद तथा एकत्ववाद ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सर्वेश्वरवाद की भावना मिलती है। जिसका तात्पर्य यह है कि एक ही मूलतत्व (तदेकम्) सृष्टि के आदि में था, उसी मे सृष्टि की उत्पत्ति हुई और वही पूर्ण रूप से सृष्टि में व्याप्त और परि समाप्त है। सृष्टि से परे उसका कोई अस्तित्व और रूप नही है। एकत्ववाद की धारणा ऋग्वेद के पुरुष सूक्त मे मिलती है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सृष्टि का वह कारण भूत मूलतत्व विराट पुरुष है जो विश्व में व्याप्त होते हुए भी उसे परि-समाप्त नही है अर्थात् वह कुछ अशों मे विश्व के परे भी है[8]।"

वैदिककाल की धार्मिक सहिष्णुता की अवधारणा का वस्तुत: तत्कालीन धार्मिक जीवन के अन्तर्गत ही अवलोकन किया जाता है तथा तत्कालीन धार्मिक स्थिति पर विहग दृष्टि डालने पर निम्नत: बिन्दुओं को केन्द्रित किया जा सकता है।

| | |
|---|---|
| (१) देव–स्तुति: | (२) यज्ञ–कर्म |
| (३) ईश्वर वन्दना | (४) समन्वय |
| (५) शिक्षा | (६) गुरु |
| (७) सदाचार | (८) कर्त्तव्य परायणता |
| (९) परोपकार | (१०) आदर्शता |

यहां पर विस्तृत रूप से उपर्युक्त बिन्दुओं पर व्याख्या करना तर्कसंगत प्रतीत नही होता परन्तु फिर भी इसका संक्षिप्त विवरण दिया जाना उचित ही जान पड़ता है–

**देव स्तुति:–** इन्द्र, वरुण, विष्णु, रुद्र, अग्नि, मरुत, पर्जन्य, अश्विनौ, पूषा आदि देवताओं की ऋग्वेद में विविध रूप में स्तुति मिलती है। इन्द्र को एक वीर देवता के रूप में स्वकल्याणार्थ अग्नि देवता की स्तुति, मित्र और वरुण को निज कल्याण हेतु, रात्रि को प्राणियों को विश्राम देने वाले रूप में, आत्म रक्षा के लिये सविता देवता की स्तुति की गयी है।[9] सूर्य को मित्र देवता के रूप में, पूषा देवता को खोये हुए धन की प्राप्ति के सहायक के रूप में स्तुति की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त देवताओं की स्तुति वैदिक काल मे अत्यन्त प्रधानता लिये हुए थी।

**यज्ञ कर्म:-** 'यज्ञ' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक रुपो मे हुआ है। सामान्यत: अग्नि प्रज्वलित करके जो हवन किया जाता है उसे यज्ञ कहा जाता था। वैदिक काल

---

८— डा० ईश्वरी प्रसाद प्रा० भा० संस्कृति कला राजनीति, धर्म तथा दर्शन पृ.५२६
९— ऋग्वेद १-३५-१

में यज्ञ–विधान अत्यधिक प्रचलित तथा जिस देवता के नाम का यज्ञ होता था, उसकी स्तुति भी मन्त्रो में निहित रहती थी। ऋग्वेद में अनेक यज्ञो का विवरण मिलता है।

**ईश्वर वन्दना:–** वेदकालीन समाज मे ईश्वर वन्दना का अत्यधिक प्रचलन था। समाज में ईश्वर के विराट स्वरूप की कल्पना की गई। 'ईश्वर ने सम्पूर्ण भूमि को अपने छोटे से अंश में धारण किया हुआ है' यह मान्यता धार्मिक अंग का स्वरुप ले चुकी थी।[१०] इसी समय धार्मिक जीवन में ईश्वरवाद की मोहर लगा कर चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र की व्यवस्था कर दी गई। ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानने के कारण उसे सभी के ऊपर एक अनुपम राजा माना गया। उसी ने मनुष्य और जानवरों की सृष्टि की। ऐसे ईश्वर की ओर प्रजापति एक कृपा प्राप्त करने के लिए देखा करते हैं।[११]

**समन्वय:–** वैदिक काल में आर्यो और अनार्यो के समन्वय की स्थिति परिपक्वता को प्राप्त हो गयी थी। देवताओ और आर्यों मे भी विशिष्ट समन्वय था। जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्यों ने ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के अतिरिक्त अन्य जातियों को स्वयं में प्रवेश को अनुमति दे दी थी। जातियों के साथ-साथ सस्कृति का भी समन्वय हुआ। स्त्री–पुरुष के भी समन्वय का आभास मिलता है। स्त्रियों को गृहस्वामिनी का रुप देकर दाम्पत्य जीवन को सरल और सरस बनाने का प्रयत्न किया गया। अतः कहा जा सकता है कि वैदिक काल का धार्मिक जीवन समन्वय को लेकर विकसित हुआ।

**शिक्षा:–** वैदिक काल में शिक्षा को धर्म स्थापना का प्रधान तत्व माना गया। सम्पूर्ण धर्मचर्या का आधार शिक्षा ही थी। वैदिक काल मे शाखाय, भारद्वाज, वशिष्ठ, बाष्कलि आदि ऋषियो ने शिक्षा का पर्याप्त विकास किया। वेदों मे अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिसके फलस्वरुप कहा जा सकता है कि वैदिक काल की शिक्षा मे धर्म की प्रधानता थी।

**गुरु:–** वैदिक काल में गुरु की महत्ता को ऋग्वेद में 'गृत्समद' ऋषि ने रुद्र का स्तवन करते समय बताया है "गुरु के पास प्रकाश स्वरुप सैन्य है जिसके माध्यम से तिमिर रुपी शत्रु–सैन्य का विनाश किया करता है। गुरु द्वारा प्रदर्शित पथ पर जो चलते है वे आनन्द के भागी बनते हैं। गुरु का मार्ग ज्ञान – मार्ग है। जिस प्रकार से

---

१०— ऋग्वेद १०/६६/२
११— ऋग्वेद १०/१२/३

वनचर सिंह के भीषण रुप और प्रचण्ड प्रताप से भयभीत हो जाते हैं उसी प्रकार जनसाधारण ज्ञानमार्ग पर चलने से कतराता है।[12] गुरु अश्लील या निम्नस्तरीय स्तुतियों को महत्व देने वाला नही है।[13] वैदिक काल मे गुरु ज्ञान की दृष्टि मे सर्वथा पूज्य है। गुरुजनो द्वारा अनुसन्धानित औषधियों के प्रयोग द्वारा नीरोग रहने वाले व्यक्ति को सौ वर्ष आनन्द पूर्वक जीवित रहने की कामना करते हैं।[14] गुरु को पाप का परिहार करने वाला कहा गया है।[15]

यथा– "पर्षिण' पारमहसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि" ॥

**सदाचारः–** वैदिक काल में सदाचार पर विशेष बल दिया गया है द्यूत–क्रीडा की कटु आलोचना करते हुये उन्हें सदाचार के मार्ग पर ले जाने का सराहनीय प्रयास किया गया है।[16] कुशिक ऋषि ने रात्रि की स्तुति करते हुये उन सभी व्यसनो पर प्रकाश डाला है, जिनसे समाज मे अराजकता फैलती है। दुष्ट मानवो की भर्त्सना करते हुये ऋग्वेद में दृष्टान्त आया है कि ऐसे शत्रुओं को जीतने के लिये साहस पूर्ण श्रम–यज्ञ की आवश्यकता होती है। वैदिक काल में सोमरस के अतिपान को निषिद्ध तथा लोभ एवं कामवासना सरीखे विकारों पर विजय पाने के लिये विशेष व्यावहारिक–शिक्षा का समाज मे प्रचलन था।

**कर्मपरायणताः–** वैदिक काल मे धर्म कर्मयोग से अभिभूत था। समाज मे सौ वर्षों तक कार्य करते हुये जीवित रहने की अभिलाषा की गई थी। व्यक्ति स्वय को समृद्ध बनाते हुऐ अपने पुत्रों तथा पौत्रो को भी समृद्ध रुप मे देखने के अभिलाषी थे। तप को जीवन का आधार माना गया। वैदिक काल का प्रवृत्ति – मार्ग कर्मपरायणता का उदाहरण है।[17] इन्द्र को एक महत्वाकांक्षी राजा के रुप मे चित्रित करके प्रवृत्ति मार्ग का ही पोषण किया गया है। वैदिक काल मे समाज में कर्म योग – सयुक्त धार्मिक जीवन का अनुपम अंग है।

**परोपकारः–** वैदिककालीन धार्मिक–वृत्ति में परोपकार के लक्षण भी पाये गये है। समाज मे विधवाओं को आदर की दृष्टि से देखा जाता था तथा विधवा – विवाह का

---

१२– ऋग्वेद २/३३/११
१३– पूर्वोक्त २/३३/४
१४– पूर्वोक्त २/३३/२
१५– पूर्वोक्त २/३३/३
१६– पूर्वोक्त १०/१२७/८
१७– ऋग्वेद ३/१४/१

भी प्रावधान था। अतः तत्कालीन समय का धर्म नारी – उद्धार के दृष्टिकोण से भी परोपकार की भावना से ओत-प्रोत था। सम्पूर्ण वातावरण को शान्तिमय बनाने की धारणा को परोपकार की शिखिर सीमा कहा जा सकता है।

**आदर्शता:–** वैदिक काल में धार्मिक जीवन में आदर्शता का महत्वपूर्ण स्थान है। देवताओं को कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिये यन्त्र का प्रावधान था। पूर्वजों ने कर्म और ज्ञान द्वारा समाज को उन्नति की ओर उन्मुख करने में जो योगदान दिया, उसके लिये यज्ञ किये जाते थे।[18] पितृलोक में निवास करने वाले बुजुर्गों के चरित्र का अनुसरण करके धन-अर्जित करना तथा ज्ञान अर्जित करने के आदर्शों को प्राप्त करना शुभ एवं श्रेयस्कर माना जाता था। तत्कालीन समाज में शक्तिवर्धन को भी एक महान् आदर्श का रुप दिया गया। वैवाहिक संस्कार को सर्वोत्तम संस्कार गृहस्थाश्रम को सर्वोत्तम आश्रम की सज्ञा दी गयी है। मनीषियों का आदर सत्कार धर्म का महान् तत्व बताया गया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैदिक कालीन धार्मिक जीवन आदर्शों से ओत–प्रोत था।

वैदिक साहित्य पर विहँगम दृष्टि डालने पर यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज मे वेदो को धारण करना, वैदिक धर्म था अथवा वेदों का अनुसरण अनुपालन और आचरण ही वैदिक धर्म था।

वैदिक धर्म के विकास पर तुलनात्तक भाषा विज्ञान एवं तुलनात्मक पुराण या शास्त्रपरक अध्ययन से अत्यधिक प्रकाश पड़ा है। ईरानी, ग्रीक, लैटिन लियुआनियन, लेट्टिस प्राचीन प्रशुन भाषाओं में वैदिक 'देव' शब्द के समान्तर शब्द प्राप्त होते हैं अतः देवता की अवधारणा भारत योरुपीय युग तक चली जाती है। वैदिक धर्म के विकास पर विचार करते हुये सामान्यतः पश्चिमी विद्वान् वैदिक धर्म मे भारत–योरपीय युग तथा भारत ईरानी युग से प्राप्त प्रकृति उपासना तत्व स्वीकार कर प्राचीन वैदिक धर्म को प्रकृति–उपासना–परक धर्म ही मानते हैं। उनके अनुसार वैदिक युग मे प्रकृति के विभिन्न पक्षों की देवरुप मे कल्पना कर उनकी उपासना की जाती थी। किन्तु इस सम्बन्ध में परम्परागत भारतीय दृष्टिकोण भिन्नता लिये हुए उचित प्रतीत होता है इसके अनुसार प्रकृति के विभिन्न पक्षों या उपादानों तथा भावों की उपासना नही अपितु उनके अधिष्ठाता देवों की उपासना की जाती है।

---

१८— ऋग्वेद १६/१४/१

इस प्रकार वैदिक धर्म का विहंगम अवलोकन करने पर हम कह सकते हैं कि तत्कालीन धर्म मे जहा बहुदेवता वाद की ओर आर्यजन प्रेरित होते थे वही एकेश्वरवाद की भावना भी समाज में प्रबल थी तथा प्रकृति को ही देवता अथवा अपना इष्ट मानकर उसकी अर्चना करते थे । वैदिक काल के अन्तिम समय में वैष्णव तथा शैव धर्म का प्रादुर्भाव भी होने लगा था । वैदिक धर्म मे विशिष्ट बात यह भी है कि वह समाज को अपने कर्त्तव्यों की ओर उन्मुख करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता प्रतीत होता है । इसी प्रकार वैदिक काल मे वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र चार वर्णो का विभाजन भी तत्कालीन समाज की एक अद्भुत कृति थी जिसमे व्यक्ति अपने व्यवसाय के आधार पर अपने वर्ण में धर्म का पालन करता हुआ समाजोपयोगी कार्य करता था ।

पिछले पृष्ठों में वैदिक धर्म के सन्दर्भ में जिन बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित किया गया है तथा ऊपर कही अनेक बातो के आधार पर हम निसंकोच कह सकते हैं कि वैदिक – काल मे धार्मिक सहिष्णुता की भावना विद्यमान थी यही नहीं वेदों में इस प्रकार के उदाहरण अनेक स्थलों पर मिलते हैं जिनके आधार पर वैदिक काल को धार्मिक सहिष्णुता का काल कहा जा सकता है । अथर्ववेद मे एक स्थल पर आता है ।

यथा– इहे दसाथ न परो गमाथेर्यो गोराः पुष्ट पतिवं अजात
अस्मै कामयोप कामिनीविश्वे वो देवा उपसयन्तु ।''[19]

अर्थात्– तुम सब एक विचार से रहो, परस्पर विरोध करके एक दूसरे से दूर न हो जाओ । अन्न अपने पास रखने वाला कृषक और गौओं का पालन करने वाला तुम्हारी पुष्टि करने वाला वैश्य तुमको इक्कठा करके यहां लाये । एक इच्छा की पूर्ति के लिये प्रयत्न करने वाली सब प्रजाओं को सब विद्वान् एकता के विचार से संयुक्त करें" । अथर्ववेद का एक अन्य उदाहरण – जिसमें व्यक्तियो के प्रत्येक कर्म को एकता के सूत्र में बांधते हुऐ व्यक्ति को मन तथा संकल्प द्वारा एक हो जाने का निर्देश है—

यथा– "सं वो मनोसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अभी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि ।।[20]

---

१६— अथर्ववेद ३/८/४
२०— पूर्वोक्त ३/८/५

अर्थात् 'तुम अपने मन एक करो, तुम्हारे कर्म एकता के लिये हो तुम्हारे संकल्प एक हो जिससे तुम सघ शक्ति से युक्त हो जाओगे। आपस में विरोध करने वालों को हम एक विचार से एकत्र झुका देते है।

इसी प्रकार ऋग्वेद के अन्तिम अध्याय के अन्त की तीन ऋचायें वेदों को धार्मिक सहिष्णुता की भावना को स्पष्ट रुप प्रदान करती है —

यथा— सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ॥[21]

अर्थात् -- हे मनुष्यों! आप लोग परस्पर अच्छी प्रकार मिलकर रहो। परस्पर मिलकर प्रेम से बातचीत करो। आप लोगों के चित्त एक समान होकर ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार पूर्व के विद्वान् जन सेवनीय और भजन करने योग्य प्रभु का ज्ञान सम्पादन करते हुऐ अच्छी प्रकार उपासना करते रहें उसी प्रकार लोग भी ज्ञान सम्पन्न होकर सेवनीय प्रभु की उपासना करें।"

अगली ऋचा में मनुष्यों के लिये कहा गया है—

यथा— समानो मन्त्र: समिति: समानी समानं मन: सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये व: समानेन वो हविषा जुहोमि ॥[22]

अर्थात्— इन सबका विचार एक समान हो। इनका अन्त: करण एक समान हो इनका चित्त एक दूसरे के साथ हो। मैं आप लोगों की एक समान विचारवान् करता हूं और एक समान अन्न से आप लोगों को पालित – पोषित करता हू।

अन्त में स्पष्ट रुप से कहा गया है—

यथा— समानी व आकूति: समाना हृदयानि व:
समानमस्तु वो मनो यथा व: सुसहासति।[23]

अर्थात्— आप लोगों का संकल्प, निश्चय और भाव अभिप्राय एक समान रहे। आप लोगों के हृदय एक समान हों, जिससे आप लोगो का परस्पर का कार्य सर्वत्र एक साथ अच्छी प्रकार हो सके।

---

२१— ऋग्वेद ८/४६/२
२२— ऋग्वेद ८/४६/३
२३— पूर्वोक्त ८/४६/४

# मैथिलीशरण गुप्त और खड़ीबोली

डा० भगवान देव पाण्डेय

भाषा मात्र माध्यम ही नही बल्कि जीवन–पद्धति भी है और उसे अभिव्यक्त करने का साधन भी। वह हमारी संस्कृति और सभ्यता का निचोड है जिसे छोड़ देने पर मौलिक कार्य नही कर सकते। दूसरी भाषा सीखकर हम दक्षता प्राप्त कर सकते हैं पर उसमे मौलिक सृजन नही कर सकते। इसी मौलिकता और सृजन का हमारे जीवन – पद्धति से सीधा सम्बन्ध है जिससे हम वास्तविक रूप में स्पष्ट अभिव्यक्ति करते हैं।

खड़ी बोली का साहित्यिक–विकास संक्रमण के कोड़ से हुआ है और आरम्भ से ही इसे विरोधों का सामना करना पड़ा है। इस देश से आकर्षित होकर बहुत से आक्रमणकारियों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया और अपने साथ अपनी भाषा थोपते रहे। मैकाले ने तो यहां की शिक्षा का माध्यम ही अंग्रेजी बनाने का सुझाव दिया। अंग्रेजी शिक्षा तथा सभ्यता की चकाचौंध में भारतीय युवा वर्ग अपने देश की सभ्यता और संस्कृति की उपेक्षा करने लगा है। अंग्रेजी शासन–काल में राजा शिवप्रसाद सिंह तथा लक्ष्मण सिंह हिन्दी के प्रसार के लिए सामने आए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भाषा की इस डगमगाती नौका को, अल्प–समय तथा सीमित साधनों के रहते हुए, किनारे लगाने का अविस्मरणीय प्रयास किया। बगाल मे राजाराम मोहन राय ने हिन्दी के प्रति निष्ठा व्यक्त की तो स्वामी दयानन्द ने गुजराती होने हुए भी अपने ग्रन्थों का प्रणयन हिन्दी में ही किया। खड़ीबोली के विकास मे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान अप्रतिम है। आचार्य द्विवेदी खड़ीबोली के अनेक लेखकों को आगे लाए जिनमें गुप्त जी प्रमुख थे।

मैथिलीशरण गुप्त हमारे आधुनिक–काव्य की नीव है। आज से सौ वर्ष पूर्व गुप्त जी का जन्म हुआ था। गुप्त जी भारतीय पुनर्जागरण के उन प्रमुख लोगों में रहे जिनकी कविताओं ने अपने और आगे की पीढ़ी को गहरे तक प्रभावित किया। देश की आजादी के साथ उसके नये रूप का सपना गुप्त जी ने देखा था। कवि होने के कारण इसमें उन्होंने अपनी भूमि का वरण किया और दूर देहात चिरगांव में बैठकर मोर्चा संभाले रहे। और यही मोर्चा आगे चलकर कविता की राष्ट्रीय धारा बना।

भारतीय नवजागरण के इतिहास में साहित्य एवं राजनीति के क्षेत्र में गुप्त जी का योगदान अतुलनीय है। गुप्त जी से पूर्व खड़ीबोली के नाम से जो कविताएं लिखी जा रही थीं उनमे खड़ीबोली और ब्रजभाषा मिश्रित थी। इनका रूप श्रीधर पाठक

की रचनाओं में जो खड़ीबोली के आदि कवि समझे जाते हैं, मिलता है। लेकिन जब गुप्त जी ने खड़ीबोली मे लिखना शुरू किया तो खड़ीबोली में कविता लिखकर निर्भीकतापूर्वक किन्तु अत्यन्त नम्रता से खड़े रहे। गुप्त जी ने एक तुतलाने वाली बोली को खड़ीबोली के रूप मे साफ सीधी बात करना सिखाया और घुटने चलने वाली भाषा को अंगुली पकड़ कर ऊंचा उठाया जिससे वह राज – काज चलाने में समर्थ हो सके। आज राष्ट्र भाषा के पद पर हिन्दी को प्रतिष्ठित कराने के लिए जो प्रयत्न किया जा रहा है "भारत भारती" के माध्यम से वर्षों पूर्व उसे गुप्त जी सिंहासन पर अभिषिक्त करा चुके थे। तुलसी की तरह गुप्त जी ने लोक भाषा के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठा दिलाई।

मैथिलीशरण गुप्त के साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण के समय खड़ीबोली निर्धन और अपुष्ट थी। मृदुता और कान्ति का उसमें अभाव था। एक अपरिमार्जित और क्षीण–कोशा भाषा उन्हे उत्तराधिकार स्वरूप मिली थी। यद्यपि खड़ीबोली के अस्तित्व का आभास अपभ्रंश काल से ही चला आ रहा है पर काव्य भाषा के रूप में वह आधुनिक काल से पूर्व गृहीत नही थी। बारहवी शताब्दी के अनेक अपभ्रंश–कवियों की कृतियों मे खड़ीबोली का विशेष लक्षण 'आ' कार प्रामुख्य स्पष्टतः वर्तमान है। अपभ्रंश के पश्चात् रासो काव्य हिन्दी के प्रथम ग्रन्थ हैं जिनकी भाषा में खड़ीबोली की विशिष्ट प्रकृति परिलक्षित है। अमीर खुसरो ने खड़ीबोली के परिमार्जित रूप का प्रयोग किया है। भक्तिकाल में खड़ीबोली का आभास सन्तो की रचनाओं मे मिलने लगता है। आगे के काव्य में भी खड़ीबोली का बराबर प्रयोग होता रहा है। रहीम, भूषण, सूदन आदि कवियो की रचनाओ में इसके प्रचुर उदाहरण सहज उपलब्ध हैं। मध्य काल में गद्य में खड़ीबोली का प्रयोग आरम्भ हुआ, लेकिन उसका निश्चित व्यवहार होने पर भी उसे काव्यभाषा का स्थान नहीं मिला और आधुनिक काल के प्रवर्त्तक भारतेन्दु ने भी खड़ीबोली का व्यवहार गद्य मे ही किया। भारतेन्दु के जीवन काल तक इसका प्रयोग गद्य में ही होता रहा।

भारतेन्दु के पश्चात् खड़ीबोली का आन्दोलन पद्य के लिए बड़े जोर–शोर से चला। इसको पद्य की प्रमुख भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को जाता है। उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से ही अनेक कवियों ने खड़ीबोली में लिखना प्रारम्भ किया जिनमें एक मैथिलीशरण गुप्त जी भी थे। खड़ीबोली को काव्योपयुक्त प्रमाणित करने वालों में गुप्त जी का सर्वाधिक महत्व रहा है। गुप्त जी के काल में तो खड़ीबोली लड़खड़ा रही थी और इसका कोई रूप स्थिर नहीं था। खड़ीबोली के नाम से, संस्कृत और उर्दू - फारसी प्रधान भाषा अभिहित थी। गुप्त जी का भाषा सम्बन्धी विचार निश्चित तथा संतुलित था।

गुप्त जी टकसाली भाषा के पक्षपाती थे। कविता में मिश्रण को गुप्त जी असमर्थता तथा हीनता का द्योतक मानते थे। फिर भी भाषा – विषयक उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी था। हां इतना अवश्य था कि वे अपनी भाषा का परिमार्जित तथा ठोस रूप देखने के आकांक्षी थे।

अपने युग–जीवन और परिस्थितियों से उद्भूत करुणा का भाव उनके काव्य की प्राणधारा है। उनकी करुणा वस्तुतः मानव–हृदय के परिष्कार का साधना है। बीसवीं शदी के प्रथम चरण में उद्बुद्ध जागरण–सुधार – की नवचेतना की परिणति जिन जीवन मूल्यों में हुई थी, उन्ही का पूर्ण प्रतिफलन हमें गुप्त जी की सर्जना में मिलता है। उनके जीवन मूल्यों में मानव मूल्य, सास्कृतिक मूल्य और धार्मिक मूल्य परस्पर गुंथे हुए हैं जिनमें मानव मूल्य ही प्रमुख है किन्तु उन पर नैतिक सांस्कृतिक मूल्यों का गहरा प्रभाव है। उन्हें जीवन के प्रकृत, माननीय और मांगलिक तत्त्व प्रिय थे। उनकी उदात्त भावना मानव–सापेक्ष थी। जीवन – मूल्यों के अनुरूप उनके काव्य मूल्य भी मूलतः आदर्शवादी थे। इस आशीर्वाद का आधार था मानववाद, जो एक ओर सगुण भावना से पोषित था और दूसरी ओर जागरण सुधार युग की राष्ट्रीय चेतना से अनुशासित थे। वे उद्देश्य मूलक काव्य–कला की साधना करते रहे। उनके ही शब्दों में–'अर्पित हो मेरा मनुजकाय। बहुजन हिताय, बहुजन हिताय।'

गुप्त जी ने अपनी कविताओं में जीवन के कथन के प्रति ईमानदारी रखने में अद्भुत सफलता प्राप्त की थी। उन्होने कविता के काल को सांसारिक रूचि के जड़व्याल के साथ नही बांधा। वे अपनी आराधना वृत्ति में इतने सजग रहे कि अपनी रचनाओं में सदैव उन्मेष और पूजा भावना प्रदान करने वाले व्यक्तियों, वस्तुओ और मर्यादाओं के प्रति ही अपने को व्यक्त किया। ब्रिटिश काल का काव्य–पुरुषार्थ जब सिसकियां ले रहा था और रीतिकालीन काव्य से हिन्दी-काव्य घबरा सा गया था और जब काव्य के नाम पर रति–विलास का निर्माण काव्य कला कहा जाता था, ऐसे समय में मैथिलीशरण गुप्त ने अतिबालित होकर अपनी लेखनी साहित्य के सात्विकता की ओर उठाई।

गुप्त जी हिन्दी के माध्यम से राष्ट्र को एकता के सूत्र में पिरोना चाहते थे। वे भाषा को एकता के सम्पादन का सबसे सबल साधन मानते थे। प्रथम–स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास मे इन्होंने हिन्दी की महत्ता को देख लिया था। आज भाषा का जो रूप हमें देखने को मिलता है उसकी नींव गुप्त जी ने पुष्ट की थी। आज संसद–भवन भाषा के नाम पर अखाड़ा बनाया जाता है। गुप्त जी का भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट था। अंग्रेजी के समर्थकों की खिल्लो उड़ाते हुए वे अपने 'अंग्रेजी' शीर्षक कविता में यहां तक कह गए हैं—

इग्लिश को भारत की भाषा
अवश बना लेते है आप
तो उस गोरी सत्ता ने ही
किया कौन सा ऐसा पाप
मना लीजिये क्यो न उसे भी
और कीजिए मृदुलालाप
गाधी फिर थोड़े आवेश
सो भी देने को अभिशाप ।
अग्रेजी' चलती न एक पल
यदि वह बूढ़ा होता आज
निज भाषा के 'बना राष्ट्र क्या
हार के हाथ हमारी लाज ।
अब गोरे साहब ने पूरा
अग्रेजी वो ही साधा
उन्हें पात है पूरा मांगो
तब मिल पावेगा आधा ।
कुछ ऐसी ही बात सुनी थी
आई थी जब खादी हाय ।
अब भी कुछ पुंगव कहते हैं
हिन्दी यहा न लादी जाय ।
किसने किस पर लादी हिन्दी
अग्रेजी लादे रहिए
मा कह कर ही हम कृतार्थ हैं
आप यथेष्ट मम्मी कहिए ।

(जनसत्ता–'दैनिक'–अगस्त–३, १९८६ से/गुप्त जी की अप्रकाशित रचना शीर्षक से जिस समय गुप्त जी का साहित्य-क्षेत्र मे प्रवेश हुआ उस समय राष्ट्रीय चेतना का क्रियात्मक रूप प्रारम्भ हुआ था । सामाजिक-दृष्टि से सुधारवादी-आन्दोलन की लहर फैल रही थी और साहित्यिक–दृष्टि से स्वच्छन्दतावादी भावनाओ का विकास और नैतिकता का साम्राज्य स्थापित होने लगा था । गुप्त जी ने खड़ीबोली के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना को उभाड़कर जातीय गौरव तथा स्वाभिमान की भावना को पुष्ट किया । जनता की भावना को सही रूप मे प्रकट करने के लिए जनभाषा का चिन्तन – मनन एव प्रयोग करना पड़ता है । गुप्त जी की युग – चेतना विलक्षण थी, जिसे वे अपने मध्यकालीन संस्कारों तथा मानवोत्थानकारी आदर्शो से इस ढग से

समान्वित रखते थे कि आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता हैं। खड़ीबोली को उन्होंने भारतीय-संस्कृति का नवीन रूप मे उद्घाटन कर तथा उसे राष्ट्रीयता से संपृक्तकर, उद्घाटित किया। खड़ीबोली मे काव्य-रचनाकर उन्होने वैचारिक क्रान्ति को गति प्रदान की।

आज हम जिस क्रान्ति युग में विचरण कर रहे है उसकी प्रारम्भिक जड़ गुप्त जी को सभालनी पड़ी। और स्पष्ट कहा जाय तो युग उनके कंधो पर बैठकर आज इतनी दूर आया है। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक खड़ीबोली, काव्य का उपयुक्त माध्यम बनाने में प्रायः असमर्थ ही थी। आधुनिक काव्य भाषा का निर्माण भी शेष था। गुप्त जी ने इस दुःसाध्य को साधने का कठिन कार्य आरम्भ किया और अपनी भाषा को निरन्तर विकासशील बनाए रखा तथा समस्त नवीन पीढ़ी का भोले भाव से संत जनोचित शब्दों में स्वागत किया—

'जो पीछे आ रहे उन्ही का, मैं आगे का जय-जयकार।' (समय के पाव-१६५७)

गुप्त जी खड़ीबोली की साहित्यिक चेतना को जागृत करने वाले भारत के उपेक्षित चैतन्य के चेता है। साहित्य जब व्यष्टि पे हटकर समष्टि की ओर प्रयाण करता है तभी वह लोक मंगल की भावना से अभिभूत हो उठता है। इस भावना को जागृत करने मे लोक भाषा का अभिन्न भाग होता है। उसे दृढ करने के लिए गुप्त जी ने खड़ीबोली को लोक-भाव-भूमि पर अधिष्ठित किया। भारतीयो मे युगो की परवशता एवं अभाव-जनित निराशा से हीनता, निरीहता एव सकोच की भावना व्याप गई थी, जिससे वे एकता की वाणी के अभाव में मूक थे और घुटन का अनुभव कर रहे थे। गुप्त जी ने इस मूक भावना को वाणी दी। वे खडीबोली को वाणी देकर इसी आदर्श के साथ आगे बढ़े कि उसके द्वारा जन-जीवन की यथार्थता आदर्श की ओर उन्मुक्त हो सके। उन्होने युग को आवाज को यथार्थवादी स्वरो मे सुना और युगों से काव्य में उपेक्षित मानवता की करुण कराह को सुनाकर उन्हे शाश्वत स्वरों से सम्बद्ध कर दिया। गुप्त जी ने सदा ही समय की पुकार को सुना और उसे छन्द बद्ध किया तथा प्राचीन सुप्त भावनाओं को खड़ीबोली के माध्यम से पुनर्जागृत किया। अतः वे प्राचीनता के संदेशवाहक नवीन कवि है।

अतः स्पष्ट रूप से हम कह सकते है कि खड़ीबोली काव्य को गुप्त जी ने ही निश्चयात्मक रूप प्रदान किया। उन्होने कविता की ज्योति समय समाज और आत्मा के भीतर देखी और नई काव्य धारा की अबाध गति से हिन्दी समाज को अभिसिंचित किया तथा तुतलाने वाली एव कठोर बोला मे माधुर्य एव गति लाकर उसे, निरन्तर निखारने का महत्वपूर्ण कार्य करके, मुखरित किया।

अध्यापक, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

# वैदिक युग में शूद्रों का वेदाध्ययन

डॉ० कान्ति लाल० शब्देवे
रीडर, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
सरदार पटेल विश्वविद्यालय
वल्लभ-विधान नगर (गुजरात)
(पिन ३८८१२०)

भारतीय धर्म समाज विद्या एवं दर्शन की गंगोत्री माने गए वेद केवल भारत की ही नहीं, समस्त मानवजात की विरासत है। सुप्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद प्रॉ० मेक्समूलर[1] ने वेद को 'मानव पुस्तकालय की प्राचीनतम पुस्तक' बताते हुए इस के बारे में लिखा है। "विश्व के इतिहास में जो कार्य अन्य किसी भी भाषा के किसी भी ग्रन्थ द्वारा सिद्ध होना संभव नहीं था, उस कार्य का भारतीय हिन्दुओं के 'वेद' नामक ग्रंथों ने सिद्ध करके दिखाया है। अतः जिस मनुष्य के हृदय में अपने पूर्वजों का एव इतिहास का किंचित् मात्र भी गौरव हो, और जो अपने बौद्धिक विकास की रचना भी कामना रखता हो—उसे अपने उस गौरव की सार्थकता के लिए तथा कामना की पूर्ति के लिए 'वेदो' के अध्ययन की परम आवश्यकता है।"

शूद्रो को इन महान ग्रंथो के अध्ययन का अधिकार है या नहीं इस विषय की चर्चा स्मृतिकाल से प्रारम्भ हुई है" स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम् इति श्रुतेः" अर्थात् 'स्त्री और शूद्रों को अध्ययन (विशेषतः वेद का) न करना चाहिये' ऐसा श्रुति कहती है। इस प्रकार के कल्पित वचन श्रुति या वेद के नाम से स्वार्थ-परायण लोगो ने गढ लिए तथा इस आशय के कुछ वचन स्मृतियो आदि में मिला दिये। किन्तु आज तक एक भी विद्वान् को यह साहस नहीं हुआ कि मूल वेदों में से एक भी प्रमाण इस भाव का उद्धृत कर सके।"[2]

शूद्रों के वेदाध्ययन-अधिकार के विरोधी आचार्यों की अपने मत के समर्थन में प्रमुख दलील यह है कि शूद्रों को उपनयन संस्कार से दीक्षित होने का अधिकार नहीं है, इस लिए उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार भी नहीं है। आचार्यों की यह दलील बे-बुनियाद है, क्योंकि पारस्कर गृह्यसूत्र जैसे मान्य प्राचीन ग्रन्थ में 'अथ शूद्राणामुपनयनम्

१– इन्डिया, व्होट केन टंट टीच अस, उद्‌धृत, डॉ० दिलीप वेदालंकार, वेदों में मानववाद, अमर भारती इन्टरनेशनल, बडोदरा, प्रथम संस्करण, १९९२, पृ. ८.

२– धर्मदेव विद्यावाचस्पति, स्त्रियों का वेदाध्ययन, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली, प्रथम संस्करण, जनवरी, १९४८, पृ. १.

शीर्षक के अन्तर्गत, 'आपस्तम्ब – शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम् । मद्यपान रहितानामिति कल्पतरुकार : ।। अर्थात् मद्यपानादि दुष्ट कर्मो से रहित शूद्रों को उपनयन सस्कार से दीक्षित किया जाय' ऐसा स्पष्ट विधान प्राप्त होता है । पंडित रामकृष्ण भट्ट विरचित, पारस्कर गृह्यसूत्र की व्याख्या 'सस्कार-गणपति'[3] मे इस विषय का विस्तृत प्रतिपादन है ।

वैदिक-काल मे शूद्रो के उपनयन संस्कार से दीक्षित होने की एवं वेदाध्ययन के अधिकार की पुष्टि उपनिषत्कालीन राजा अश्वपति केकय की इस उक्ति से भी होती है, जिसमें वह डके की चोट पर दावा करता है कि 'मेरे राज्य में कोई भी व्यक्ति अविद्वान् नही है ।' (छा उप ५/११/५) अर्थात् अश्वपति के राज्यों में सर्व नर-नारियों को शिक्षा का अधिकार प्राप्त था । और यह तो सर्वविदित तथ्य है कि वैदिक-काल में सामान्यत: उपनयन संस्कार से दीक्षित होने के पश्चात् ही व्यक्ति को वेदाध्ययन एवं वेद मन्त्रो के उच्चारण का अधिकार प्राप्त होता था । छादोग्य उप० (४/२/३) में जानश्रुति पौत्रायण नामक शूद्र राजा को सयुत्वा रैक्व नामके ब्राह्मण द्वारा ब्रह्मविद्या (सवर्गविद्या) का उपदेश दिये जाने का स्पष्ट निर्देश है । यहां सयुक्वा रैक्व ने जान श्रुति को दो बार 'ऐ शूद्र !' शब्द से सबोधित किया । शंकराचार्य प्रभृति आचार्यों[4] का कहना है कि जानश्रुति 'जातिशूद्र, नहीं था 'शोक के कारण रैक्व के पास दौड़ने के कारण' उसे शूद्र कहा गया है ।" डॉ. दिलीप वेदालकार, नर्मदाशंकर महेता, म० च० पटेल आधि विद्वानो[5] ने इस मत को समी चीन नही माना है । छांदोग्य उप (४/४/१-५) मे भी दासीपुत्र सत्यकाम जाबाल की सत्य-वादिता से प्रसन्न आचार्य गौतम उन्हे वेदका ज्ञान देते हुए दर्शाये गए है । ये सब प्रमाण वैदिकयुग मे शूद्रों के वेदाध्ययन के अधिकार के स्पष्ट रूप से द्योतक है ।

वैदिक-काल में शूद्रों के वेदाध्ययन के अधिकार का समर्थन स्वयं वेद के मन्त्रो के द्वारा भी होता है । यथा ऋग्वेद (१०/१९/१३) में भगवान् का विश्व के सब नर–नारियों को सम्बोधित करते हुए स्पष्ट कथन है कि "तुम्हारे लिये ये मन्त्र समान रूप से दिये गये है तुम्हारी सभाएं सबके लिए समान रूप से खुली हुई हो, मैं तुम्हारा मन और चित्त समान और मिला हुआ हो, मैं तुम्हे समान रूप से मन्त्रो को देता हूं और

३— चौखम्बा ग्रन्थमाला, वाराणसी, प्रथम संस्करण पृ० ६४२.

४— द्रष्टव्य : ब्रह्मसूत्र (१/३/३४) पर शांकरभाष्य, अणुभाष्य

५— न० दे० महेता : उपनिषद् विचारणा, गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी, अहमदाबाद प्रथम संस्करण, १९३२, पृ. ३७, तथा ब्रह्म-मीमांसा ज्योति, प्रथम संस्करण, पृ० ५ आदि

समान रूप से ग्रहण करने योग्य पदार्थों को देता हूं।" इसी प्रकार यजुर्वेद (२६।२) मे भी ईश्वर द्वारा स्पष्ट रूप से कहा गया है "हे मनुष्यो, मैं ईश्वर, जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने स्त्री सेवक आदि और उत्तम लक्षण युक्त अत्यज के लिए भी इस ससार में प्रगट हुई सुख देने वाली चारो वेद रूपी वाणी का उपदेश करता हूं, वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें।" यह अथघटन स्वामी दयाननन्द जी ने किया है, जिसका समर्थन पडित सत्यव्रत सामश्रमीजी, स्वामी हरिप्रसाद जी एव डॉ० दिलीप वेदालकार जी प्रभृति विद्वानों[6] ने भी किया है।

यहां यह बात खास स्मरण में रखने योग्य है कि शूद्रो के लिए जिन वेद मन्त्रो के अध्ययन का प्रतिषेध किया गया है, इनमे से कतिपय वेदमन्त्रो का तो दर्शन (रचना) ही कुछ शूद्र द्रष्टाओ ने किया है। उदाहरण के तौर पर कहा जाय तो ऋग्वेद के प्रथम मंडल के (११७ से १२७ तक के) बारह सूक्तों के द्रष्टा कक्षीवान्, दशम मडल के 'अक्षसूक्त' के द्रष्टा कवष ऐलूष, जाबाल और ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेय आराण्यक एवं ऐतरेय उपनिषद् के द्रष्टा महीदास ऐतरेय आदि शूद्र रहते हुए भी वेदमन्त्रो के द्रष्टा बन सके।

इस संदर्भ में डॉ० गौतम पटेल[7] लिखते हैं, "शूद्रो को भी मन्त्रदर्शन ! यह वेद कालीन समाज का औदार्य है। जातिप्रथा के आज के दूषण तथा बन्धन वहा नही थे। अथर्ववेद (१९/६२/१) एव यजुर्वेद (१८/४८) के निर्देश यह सूचित करते है कि तब शूद्र को समाज मे नीच या अस्पृश्य नही माना जाता था। XXX उपनिषत्ग्रन्थो में क्षत्रिय ब्रह्मविद्या का ज्ञाता हो या शूद्र ब्रह्मविद्या का अधिकारी हो ऐसे दृष्टान्त अवश्य उपलब्ध होतें हैं। ज्ञान पर केवल ब्राह्मणो का इजारा और सेवा शूद्र का कर्तव्य, यह विचार परवर्ती है यह सुस्पष्ट है और विद्वानो की मजूरी की मुहुर भी उस पर लगी हुई है।"

शूद्र अपनी निचली स्थिति में ही पड़ा न रहे, अपने आत्मतत्व का विकास करें, इस लिए उसे कहा जाता है-- 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्' (मनु० १०/६५) शूद्र भी ब्राह्मण बन सकता है। जब तक वह उन्नत नही होता, तभी तक वह

६— ऐतरेयालोचन पृ० १७, स्वाध्याय संहिता पृ० ८२. उद्धृत, धर्मदेव विद्यावाचस्पति, स्त्रियों का वेदाध्ययन, पृ० १४४.

७ — वैदिक साहित्य अने संस्कृति, युनिवर्सिटी ग्रन्थ-निर्माण बोर्ड, अहमदाबाद, द्वितीय संस्करण, १९९०, पृ० ३४०.

शूद्र है, उसके उन्नति के मार्ग पर चलने मे कोई समाज उसके सामने बाधा बनकर नहीं खड़ा हो सकता ।[8]

यह दुर्भाग्य की बात है कि वेदों के अध्ययन मे शूद्रों के अधिकार की बात इतनी सुस्पष्ट होने पर भी शंकराचार्य-प्रभृति आचार्यो ने ब्रह्मसूत्र (१/३/३८)[9] का आधार लेकर शूद्रो के वेदाध्ययन, वेद श्रवण एव वेद के अर्थज्ञान के अधिकार का निषेध किया है। इस संदर्भ मे वेद के मर्मज्ञ आचार्य लक्ष्मीदत्त दीक्षितजी[10] लिखते हैं। "वस्तुत. इस सूत्र मे अथवा इसके आसपास कही भी इस दूषित कल्पना का लेश भी नही है। XXX अधिकार का आधार कुछ विशिष्ट गुण है न कि किसी वर्ण विशेष मे जन्म शूद्र वर्ण में जन्म लेने के कारण किसी को वेदाध्ययन का अधिकारी न होने का कही संकेत तक नही है। इस सूत्र को न समझ कर पौराजिक आचार्यों ने अपनी दूषित भावना को आरोपित कर डाला। XXX सबसे अधिक खेद और आश्चर्य का विषय यह हैं कि इस अनर्थ के प्रयोजक चराचर जगत् को एक ब्रह्म का ही रूप मानने वाले जगद्गुरु शंकराचार्य थे। XXX इन सब अर्थ इन प्राचार्यो की निकृष्ट एव अवैदिक विचार धारा के परिचायक है। XXX यह स्वार्थी तथा धूर्त लोगो की ही कपोल कल्पना है। जिसके आधार पर विश्व की लगभग तीन चौथाई मानव जाति को वेद ज्ञान से वंचित रखने की घृणित चेष्टा की जाती रही है।

'न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्' यह व्यासप्रोक्त आदर्श के मूर्तिमत् स्वरूप ग्रन्थ राट् वेद" किसी भी देश और काल की सीमा मे नही आता, वह सम्प्रदाय से अतीत है, इतिहास और भूगोल की सीमाएं उसे नही बांधती। वेद का उद्देश और सन्देश किसी जाति विशेष या देश विशेष के लिए नही है — मानव मात्र के लिये है। XX यही कारण है कि वेद मानव मात्र को 'अमृतपुत्र' कहकर पुकारता है। वेद कहता है श्रृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्रा : अर्थात् हे अमृत के पुत्रो ! सब के सब सुनों।[11]

वेद की ज्ञान राशि पर शूद्रों सहित समस्त मानव जाति के स्वयं श्रुति प्रोक्त अधिकार का प्रतिपादन करने वाले यह वचन के उपरान्त भी किसी को कुछ कहना बाकी है ! ?

सुरोषु किं बहुना ?

—o—

८- पं. धर्मदेव विद्यावाचस्पति : वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र, गुरुकुल कांगडी, प्रथम संस्करण, पृ. १५२-१५३.

९- 'श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात्स्मृतेश्च ।'

१०- वेद-मीमांसा, ईस्टर्न बुक लिन्कर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९४०,पृ १९८-२०१

११- डॉ. दिलीप वेदालंकार, वेदो में मानववाद, पृ. १९.

# गुरु जम्भेश्वर वाणी में व्यक्तिगत नैतिकता

रोहताष कुमार सुनार
दर्शन विभाग
कु० वि० कुरुक्षेत्र हरियाणा

वस्तुत : भारतीय संस्कृति में सारी नैतिकता का आधार धर्म का पर्यायवाची शब्द 'रिलजन'' नही है। उसे तो हम ईश्वरवाद कह सकते है। भारतीय जीवन मे जो चतुर्गंर्ग फल प्राप्यर्थ सभी वर्णो और आश्रमो के सदस्यों द्वारा अपने-अपने कर्त्तव्यो का पालन रूपी ही धर्म है। यह समस्त आचार का भी आधार है। वैदिक काल से लेकर अब तक व्यक्ति और समाज को धर्म इस प्रकार की प्रेरणा देता चला आ रहा है कि जिससे हमारी अन्तरात्मा पुष्ट होकर बुराई तथा नैतिक अशुभ से सघर्ष करने मे हमारी सहायता करती रही है। धर्म के तत्व, काम क्रोध मोह, लोभ आदि दुर्गुणों को निरस्त करके हमे नैतिक बल प्रदान करते हैं अर्थात् धर्म मानव के कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाकलापो को लोकहित अथवा मानवता के महान आदर्शो के साथ जोड़कर व्यष्टि और समष्टि के बीच नित्य सम्पर्क की स्थापना करता है। धर्म कोई कर्म–काण्ड या उपासना पद्धति नही हैं वह तो मानव की सुचेष्टाओं और सद्वृतियो का फल है और जीवन की अमिट कामनाओं तथा अदृष्ट की अस्पष्ट भावनाओ को पाने का एक अचूक साधन है। यह तो मानव जीवन की नैतिक प्रगति का मापदण्ड है। इस लिए कहा जा सकता है कि धर्म और मानवता का अन्योन्याश्रम सम्बन्ध है। भारतीय संस्कृति मे धर्म की व्याख्या सर्वत्र इसी प्रकार की गई है कि यह मानव को उसके वास्तविक एवं विशाल हित के सम्पादन करने वाले कर्तव्यों की ओर प्रेरित करता है। धर्म मे कुछ ऐसे सप्राण मूल्य होते है जो ईश्वर के ज्ञान में प्रेममय और कल्याणमय स्वरुप के परिणाम होते हैं। इन्ही मूल्यों के आधार पर आचरण के व्यावहारिक नियमों का महत्व विश्वव्यापी हो जाता है जब मनुष्य किसी आवेश से भावित होता है उस समय नैतिक भावना ही उसकी अभिव्यक्ति के लिये मार्ग निर्देशन करती है और उसी के कारण से सत्य, अहिंसा, प्रेम, उदारता आदि नैतिक सिद्धान्त मानव मन में पुण्य के समान विकसित होकर उसे महान सन्तोष प्रदान करते हैं। विविध शास्त्रकारों ने धर्म के विविध शास्त्रकारों ने धर्म के विविध लक्षण बताये हैं। ''महाभारत'' के वनपर्व में धर्मव्याध के मुख से न्याय युक्त कर्मो को धर्म कहलवाकर उसे तीन प्रकार से प्रतिपादित किया गया है वेद प्रतिपादित, धर्म-शास्त्र वर्णित, सत् पुरुषों के आचरण। इसी प्रकार अन्य पुरुषों तथा भागवत मे धर्म की बड़ी विस्तार से व्याख्या की गई है। स्मृतिकारों ने इसे वर्णधर्म, आश्रम धर्म, निमितधर्म, साधारण धर्म आदि नाम भेदों से वर्गीकृत किया है। मनुष्य अपनी योग्यतानुसार समाज में कर्म–विभाजन करता है और उसके

द्वारा उसे अपना कर्त्तव्य पालन मे सुविधा हो जाती है। इस कर्म-विभाग तथा कर्माधिकार के सुदृढ़ आधार पर वर्णधर्म की व्यवस्था की गई है। इसका कर्मयोग रुपी धर्म की संज्ञा देकर गीता मे इसका विवेचन किया गया है।[1] और इसी को परम सिद्धि का साधन माना गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल से लेकर सभी कालों मे धार्मिक नीति ऐसे स्कन्धो पर आधारित है जिनका सम्यक सन्तुलन ही सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यवस्था की सुचारुता का प्रतीक रहा है। जम्भ जी धर्म का मूल वेद को ही मानते हैं।

स्मृतिकारों ने जिनको वर्णधर्म, आश्रम धर्म, निमित्त धर्म और साधारण धर्म आदि नाम भेदों से वर्गीकृत किया था और वेद ने इन्ही प्रकारों को प्रवृति लक्षण तथा निवृतिमूलक धर्म माना था। जम्भो जी ने वर्णाश्रम धर्म का वर्णन अपने जम्भ सागर में न "सामान्य धर्म" की चर्चा बडे ही सुन्दर एवं विस्तृत ढंग से की हैं। क्योंकि उनके युग मे इनकी अत्यन्त आवश्यकता थी, कि कारण यह था लोग बाहरी जातियों के आने के कारण अपने कर्तव्य भूल गए थे। मैं यहां पर यह कहना चाहूगा कि जम्भ जी ने अपने ग्रन्थ मे भाव बुद्धि और नीति का जो समन्वय किया है वह एक प्रशंसनीय कार्य है। उसकी उपयोगिता और समीचीनता युगों युगों तक व्यक्ति को प्रेरणा देती रहेगी। जम्भ जी के नायक विष्णु का अवतार लेना धर्म की मर्यादा की स्थापना करना है। वे स्वय कहते हैं कि जब भी धर्म की हानि होती है तो मैं (विष्णु) धर्म रक्षा हेतु अवतार लेता हूं :

तेतीसां कीबरम बहा म्हे, हांस काजै आयों,
बारा थाप घणा न ठाहर, मतांतो डीले डांले कोड़ रचायो ॥
म्हे ऊंचे मण्डल का रायो।[2]

रावण, दुर्योधन, कीचक, हिरण्याकश्यप आदि का वध का कारण अधर्म ही था।

वस्तुतः भारतीय संस्कृति की यह मान्यता है कि जब-जब संसार में धर्म का प्रभाव घटने लगता है और पृथ्वी पर अधर्म छा जाता है तब युग-युग में भगवान का अवतार होता है। जम्भ जी ने इसी मान्यता को प्रतिष्ठित किया है।

---

१— यतः प्रवृतिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव ॥
गीता अध्याय १८ श्लोक ४६,

२— शब्दवाणी जम्भसागर, २९/७, कृष्णानन्द आचार्य, प्रिंटर्स ऋषिकेश हरिद्वार

जम्भ जी का धर्म कोई खोखला आडम्बरवाद नही है। वे सदाचार की प्राप्ति के लिए तथा धार्मिक जीवन बिताने के लक्ष्य से राग द्वेष आदि अवगुणो की निवृति को परमावश्यक समझते थे। जिन धमसूलक आदर्शो को अपनाने का सकेत उन्होने जगह-जगह पर किया है। उनका स्रोत वेद पुराण स्मृतिया आदि धर्म ग्रन्थ ही रहे है। वे स्वय स्वीकार करते हुये कहते है कि 'भोरा उपरुयान वेदू" शब्द, १४ सामान्य धर्म की जो चर्चा स्मृतिकारो ने की है जम्भ जी ने बड़े सुन्दर ढग से अपने ग्रन्थ मे उनका वर्णन किया है।

**सामान्य धर्म :** जो मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस की कामना करते है, उनके लिए सामान्य धार्मिक आदर्शों का परिपालन करना आवश्यक है। जम्भ जी ने शाश्वत आदर्शो का परिपालन करना आवश्यक बताया है जम्भ जी न शाश्वत आदर्शो को एक व्यक्ति विशेष के सामने रखकर प्रस्तुत नही किया बल्कि जो व्यक्ति उत्कण्ठा से भरा हो, या सगोष्ठि रुप मे उनसे कुछ पूछता है वे उन्हे उसी प्रकार इनका वर्णन उनके सम्मुख प्रस्तुत करते है। जो उन्होने समाज के सम्मुख सामान्य धर्म बताये है वे इस प्रकार है— सत्य, अहिसा, शील, बल, विवेक, दम, परहित क्षमा, दया, समत्व भाव, धैर्य, वैराग्य, सन्तोष, दान, बुद्धि, विज्ञान, निर्मल मन, शम, यम–नियम, ईश्वर भजन तथा गुरु पूजा को जीवन के समरागण मे रावण, कीचक, हिरणाकश्यप रुपी अधर्म पर विजय प्राप्त करने का साधन बताया है। इन सभी आदर्शों मे लोक-कल्याण की भावना और आत्मोत्थान अन्तर्निहित है। इन्ही आदर्शो को जम्भ जी स्थान-स्थान पर प्रप्तपादित करते दिखाई पड़ते है।

**सत्य :** सभी धर्म ग्रन्थों मे सत्य को धर्म का स्तम्भ माना गया हैं। उपनिषदों मे "सत्यमेव जयते नानृतम् का उद्घोष किया है। जम्भ जी भी उसी आदर्श का प्रतिपादन जगह-जगह पर करते हैं।

सुवचन बोल सदा सुहलाली।[3]

चोरी निन्दा झूठ बरजियो, वाद न करणो कोय।[4]

चन्द सूर दोय बैल रचीलो, गुड़ जमन द्रोय रासी।

सत सन्तोष दोय बीज बीलीलो, खेती खड़ी अकासी।[5]

जम्भ जी कहते हैं कि व्यक्ति को देश का भला सोचते हुये सत्य मार्ग पर अडिग रहे जैसे राजा हरिश्चन्द्र।

---

३— वही ७८/१

४— वही २९ नियमों में १३ वां भाग

५— वही १०८/१

–तारा दे रोहितास हरिश्चन्द्र, काया दशबन्ध दीयो।

**शील:–** शील धर्म का प्रमुख अग और परम भूषण है। समस्त प्राणियों के प्रति अद्रोह की भावना और व्यवहार मे श लानता तथा शिष्टाचार को ही शील कहा जाता है। जम्भ जी कहते है कि शील हर व्यक्ति मे होना चाहिए—

ओउम सहजे शीले सेज विछायों, उनमन रहया उदासूं।[6]

शील स्नाने संजमें चालो, पाणी देह पखाली।

गुरु के वचने निव खिव चालो, हाथ जपो जप माली।[7]

तिरया दानू कछु न मानूं, मानू एक सुचील सिनानूं।[8]

सेरा करो स्नान्, शील शन्तोष शुचि प्यारो।[9]

जिस व्यक्ति मे शील भावना नही है वह यमपुरी मे भी सताता जाता है इस पर जम्भ जी कहते है कि–

शील विवरजित दुहेलौ, यमपुरी में संताईये।[10]

आगे कहते है कि बिना शील का व्यक्ति कुटिलता से भरा होता है–

जां जां पाले न शोलू तां तां कर्म कुचीलू ।।[ए]

**बल :** बल के अन्तर्गत शरीर बुद्धि तथा आत्मा तीनो के बल को ही गिना जाता है। बलहीन व्यक्ति न पाप से सघर्ष कर सकता है न ही अकिंचन होकर धर्म का पालन कर सकता है। जम्भ जी ने अपने ग्रंथ में राम कृष्ण युधिष्ठिर का जगह-जगह सन्दर्भ देकर बल का वर्णन दर्शाया है।[11]

---

६— वही शब्द १०७
७— वही ८६/५.
८— वही १०४/१
९— २९ नियम का ३
१०— वही ३०/१०.
ए— वही–५८/१२.
११— वही शब्द १०.

**विवेक :** सत् और असत् को पहचान कर सत् को ग्रहण करना ही विवेक का लक्षण है और लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के धर्मों में इसका विशेष महत्व है। जम्भ जी ने जगह-जगह इसके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं— एक राजा को जम्भ जी ने कहा कि यह धन दौलत मब झूठी है परमात्मा ही सत्य है।

ओउम सासूं, तईया मांसूं, रक्तूं रुहीयूं, खीरु नीरु ज्यूं कर देखूं।

ज्ञान अन्देसू भूला प्राणी कहे सो करणों।[12]

**दम :** मनुस्मृति मे धर्म के लक्षणों में दम को धर्म का लक्षण माना है। दूसरों के प्रति अपनी बुरी भावनाओ का दमन करना, अपवित्र विचारों को मन में न आने देना और निर्भयतापूर्वक मानसिक रोगो से बचे रहना ही दम कहलाता है। व्यर्थ कामनाओं की निवृति से मनुष्य दम का अश्य सी हो जाता है और उसके अन्दर त्याग वृति उत्पन्न हो जाती है जम्भ जी ने इसका उदाहरण उस समय प्रस्तुत किया है।

जब नरेश लूणकरण ने अपने बेटे प्रताप को तो युद्ध के लिए घोड़ा दे दिया पर बड़े बेटे जेतसी को नही दिया तब वह जम्भ जी के पास आकर पूछता है कि यह सब क्या है तब जम्भ जी कहते हैं किसी के प्रति द्रोह न रखो बस यही सन्देश है।[13]

**परहित :** महर्षि वेदव्यास ने १८ पुराणो का निचोड़ निकालकर धर्म का सार बताते हुये परोपकार को समस्त पुण्यो का मूल बताया है। जम्भ जी ने अपनी वाणी में जगह जगह इसकी चर्चा की है।

सता सन्तोषी सत उपकरणा, म्हे तजिया मान अभिमानूं।[14]

संसार में उपकार ऐसा, ज्यूं घण बरषंता नीरु।

संसार में उपकार ऐसा, ज्यूं रूही मध्ये खीरूं॥[15]

अतः यही सन्त लोगों की पहचान है कि वे हमेशा परहित में लगे रहते हैं परोपकार ही परम धर्म है।

**क्षमा :** सामर्थ्यवान् व्यक्ति अपराधी को दण्ड न देकर उसको क्षमा करके सुधार देता है, नैतिक दृष्टि से यह बड़ा महत्व शाली गुण माना गया है। महाभारत में।

---

१२- वही—१७/१.
१३- वही—विस्तृत दृष्टव्य—वही शब्द ६४/१३.
१४- वही, शब्द, ६६.
१५- वही, ६६/४.

# तुष्टिर्मोक्षबाधिका

लेखकः— डा० विजयपाल शास्त्री
रीडर एवं अध्यक्ष
दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

योगाभ्यास भूमिकायां सन्तोषः परमं साधनम् । सन्तोषजलेन क्षालिता चित्त भूमि निर्मलत्वमापन्ना समाधियोग्यत्वमधि गच्छति । समाहित चित्त सत्त्व पुरुषान्यता-ख्याति रूप विवेक साक्षात्काराय समर्थो भवतीति पातञ्जल योग वादिनामभिमतम् । "सन्तोषः परम सुखम्" "सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभ." इत्यपि च योगतत्त्व विदा मतम् किन्तु मोक्षभूमिकायां स एव सन्तोषो महान् प्रत्यूहः' इति साङ्ख्याना वचनम् । तुष्टि र्मोक्षस्य परिपन्थिनी योगसिद्धीनां चांकुशरूपिणी विद्यते । 'सिद्धेः पूर्वोङ्कुशस्त्रिविधः" इति सांख्याचार्य ईश्वर कृष्णो ब्रूते ।

मोक्षबाधिका तुष्टिरियं नवधा साख्यैः समुद्दिष्टा । प्रकृत्युपादान काल भाग्या पञ्च आध्यात्मिकयस्तुष्टयः । शब्दोपरम, स्पर्शोपरम, रूपोपरम रसोपरमः गन्धोपरमश्चेति पञ्च बाह्यास्तुष्टयः इति नव तुष्टयो भवन्ति । एता एव तुष्टयः, क्रमशः — अम्भः सलिल मेघो वृष्टिः पारं सुपार पारापार अनुत्तमाम्भ उत्तमाम्भश्च कथ्यन्ते । एतास्तुष्ट्यो योगसाधकस्य चित्तं सम्मोह्य मोक्षमार्गात् प्रच्यावयन्ति । एतासा स्वरूपं तत्त्वतो विज्ञाय साधकेन सावधानेन भवितव्यम् ।

**१ - प्रकृति तुष्टिः**— कश्चिदनाप्तः पुरुष स्वशिष्यायोपदिशति — "विवेकसाक्षात्कारो बुद्धेः परिणाम विशेषो विद्यते प्रकृतिरेव त करोति, तस्मात् को लाभ. श्रवणादि-भिरुपायैः ? एवमेव सन्तुष्टो भूत्वा तूष्णीमास्स्वेति" । इत्थं श्रुत्वा उपदेष्टव्यस्य शिष्यस्य या तुष्टिः सा प्रकृतिरुच्यते । इयमेव तुष्टिरम्भोनाम्नाऽपि व्यपदिश्यते । अम्भो जलनाम । यथा जल निमज्जने हेतुः तथैवेयं तुष्टिरपि संसारपातने हेतुः । तत्सादृश्यात् प्रकृति तुष्टिः अम्भ इत्युच्यते ।

**२— उपादानम्**— "विवेकख्यातिः प्रकृतिमात्रान्न भवति । यदि प्रकृतिरेव विवेक साक्षात्कारे हेतुर्भवेत् तदा तु तस्याः सर्वान् प्रत्यविशेषात् सर्वस्य सवदा सममेव विवेक ख्यातिरुदियात् । तस्मान्न केवल प्रकृत्याः विवेकसाक्षात्कारः अपितु प्रव्रज्यैव केवल विवेक प्राप्तौ हेतुः । "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेदिति श्रुतिरत्र प्रमाणम् । तस्मात् हे वत्स ! प्रव्रज्यैव केवलमुपादेया । त्यज ध्यानाभ्यासादीनि साधनानि" इति केनापि उपदिष्टे सति उपदेष्टव्यस्य शिष्यस्य या तुष्टिः सा उपादान तुष्टिः ।

अस्याभिप्रायो यत् प्रव्रज्ययाऽपि न विवेक ख्याति रुदेति । य प्रव्रज्यामेव, मोक्ष-साधनं मन्यमानः ध्यानाभ्यासादीन् विहाय सन्तुष्टो भूत्वा विरमति, स परम पुरुषार्थ न प्राप्तुं शक्नोति । सेयं तुष्टिः सलिल नाम्नाऽप्यभिधीयते । सलिल यथांऽकुरं प्रति सहकारि कारणं भवति तथैव प्रव्रज्याऽपि विवेक-साक्षात्कारस्य सहकारि कारण विद्यते । साक्षात्कर्तृभिः उपादीयमानत्वात् इयमुपादान तुष्टि निगद्यते ।

**३– कालतुष्टिः–** "सन्न्यासेनापि केवलेन न सद्यः मोक्ष प्राप्तिः सम्भवति । सन्न्यासोऽपि कर्म परिपाकमपेक्ष्यैव समुचिते काले समागते एव विवेक साक्षात्कारं कारयिष्यति । कृषिरिव सर्वाणि कार्याणि कालमेव अपेक्षन्ते । "समय एव करोति बलाबलम्" इति स्मृतिरत्र प्रमाणम् । तस्मात् हे वत्स ! त्वया विवेक साक्षात्कारे त्वरा न विधेया । कालं प्रतीक्षमाणस्तूष्णीमास्स्व । काले स्वयमेव निर्वाणं भविष्यति" इत्युपदेशे या तुष्टि र्जायते सा कालाख्या तुष्टिः । इयं तुष्टिः मेघपरपर्याया । यथा मेघो वृष्टेः साधनम्, तथैव कालोऽपि मोक्षस्य साधारण कारणमिति सादृश्यात् इयं तुष्टिर्मेघ उच्यते ।

**४– भाग्य तुष्टिः–** न प्रकृतेर्न सन्न्यासात्, नापि कालात् मुक्ति र्भवति, अपितु भाग्यादेव सा भवति । यदि भाग्ये विवेक साक्षात्कारो भविष्यति तदा स स्वयमेव अनायासेनैव लब्धो भविष्यति, अलं पुरुषार्थेन । "भाग्यं फलति सर्वत्र न बुद्धि र्न च पौरुषम्" 'यत्पूर्व विधिना ललाट लिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः इत्यादि स्मृति बलात् भाग्यमेव मोक्ष साधनसिध्यति । अत्र मदालसायाः पुत्रा उदाह्रियन्ते । "त्वं शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि मा रुदिहि, दु.ख नात्मधर्म." इति मदालसाया उपदेशेन तस्या एक हायनाः पुत्रा विवेकख्याति - लाभात् मुक्ता बभूवुः । भाग्येनैव सर्वमिदं जातम् । भाग्यादेव एतादृशी माता समुपलब्धा, भाग्येनैव च तादृश उपदेशो जात. । तस्मात् भाग्यमेव विवेक साक्षात्कारस्य मुख्यं साधनम्" इत्युपदेशे सति शिष्यस्य या तुष्टि र्जायते सा भाग्याख्या तुष्टिः । इय तुष्टिः वृष्टि नाम्नाऽपि भण्यते । अकस्मात् विवेकख्यातिवर्षणादियं वृष्टिरित्याख्यायते । इति प्रकृत्युपादान कालभाग्याख्याः चतस्र आध्यात्मिक्यस्तुष्टयः ।

**५– पारा तुष्टिः–** वैराग्यस्य पञ्च हेतवः

१— धनादीनामर्जने दोषदर्शनम् ।

२— रक्षणे दोषदर्शनम् ।

३— क्षये दोषदर्शनम् ।

४— भोगे दोष दर्शनम् ।

५— हिंसायां च दोष दर्शनम् ।

एतै र्हेतुभिः पञ्च विषयेभ्यो या उपरतिः सैव पञ्चविधा बाह्यास्तुष्टयः । यथा—

प्रथमा पारनाम्ना तुष्टिः धनार्जनोपायेषु पेवादिषु दोषदर्शनाद् भवति । धनोपार्जने सेवकानां महान् क्लेशो जायते । भृत्याः स्वामिनः सकाशाद् अपमानं सहन्ते, दण्ड-धारिणां: दण्डै राहता भवन्ति । को वै प्राज्ञः तादृशीषु सेवासु सज्जो भवेत् कथितं शास्त्रेषु–

दृप्यद् दूरीश्वर द्वाःस्थ
दण्डिचण्डार्ध चन्द्रजाम् ।
वेदनां भावयन् प्राज्ञः
कः सेवास्वनु षज्जते ॥

इत्थं धनार्जनोपायेषु सकलेष्वपि दोषदर्शनाद् बाह्यविषयेषु वैराग्य बुद्धि जायते । एतेन वैराग्येन या तुष्टिः साधकस्य मनसि समुत्पद्यते सा पारा तुष्टिः कथ्यते । धनार्जन दु:खस्य पारं गमयति, इत्यस्मात्कारणादियं पारसंज्ञा लभते ।

**६- सुपारा तुष्टिः–** "महता प्रयत्नेनोपार्जितानि धनानि राजा आहरति, चौरश्चोरयितुं शक्नोति, लुण्ठका लुण्ठन्ति भूकम्प जलौघादिभि दैवसंकटै नंष्टा भवन्ति । इत्थ धनानां रक्षणे महान् कष्टो जायते । को न्वेषां विषयाणां रक्षणेऽनुषज्जेत" इत्थ भावयतो योगिनः चेतसि या वैराग्य बुद्धि र्जायते, तयैव चेत् स्वात्मान कृतकृत्य मन्यमानस्तुष्टि भजन् साधको ध्यानाभ्यासादीन् प्रजहाति सैषा तुष्टिः सुपारा निगद्यते । सुतरा दु:खपारं गमयितृत्वादिय सुपार सज्ञा भजते ।

**७- पारापारा तुष्टिः**- विषयाणा क्षयदोषदर्शनात् पारापारा तुष्टिरुत्पन्ना भवति । अर्जित रक्षित चापि धन शनैः शनै भुज्यमान क्षयमापद्यते । एवं भावयतो योगिनो विषयोपरमे या तुष्टि सा पारापारा । यदा विषयेषु अप्रवृत्ति स्तदा स दु:खस्य पारं यदा च प्रवृत्ति स्तदा स दु:खस्यापारः । इत्थमिय पारापार सज्ञां दधाति ।

**८- अनुत्तमाम्भ तुष्टिः–** विषयाणा भोगेषु दोष - दर्शनाद् विषयोपरमे या तुष्टि सा अनुत्तमाम्भः सज्ञा लभते । विषयाणा भोगात् कामा. न शाम्यन्ति किन्तु घृतेनाग्निरिव प्रतिदिन वर्धन्त एव । विषया यदा न प्राप्यन्ते तदा कामी दु:खमनु भवति । इत्थ भोगेषु दोषदर्शनात् योगिनश्चेत. विषयेभ्य उपरमति । तैनेवोपरमेन चेत् साधकस्तुष्टो भूत्वा मोक्षानुसन्धान विजहाति, सेयं तुष्टिः अनुत्तमाम्भ. कथ्यते ।

निरन्तरं भोगान् भुञ्जाना अपि सुधियो जनाः तेषु दोषदर्शनेनापि तेभ्यो न विरमन्ति । इत्थमियं दोष दृष्टि सुतरा भोगेषु घृणां वैराग्तबुद्धि वा न जनयति तस्मात् कारणादियं विषयोपरतिरुत्तमा न विद्यते । तेनेयं अनुत्तमाम्भ इत्यन्वर्थां संज्ञा दधाति ।

९– **उत्तमाम्भः तुष्टिः–** विषयेषु हिंसा दोषदर्शनात् विषयोपरमे या **तुष्टिः** सा उत्तमाम्भा तुष्टिः कथ्यते। **हिंसां विना विषयोपभोगो** न सम्भवति। **अस्माभिः** भुज्यमानेषु घृत दुग्धान्नपानादिषु **बहवः प्राणिनो** वसन्ति। कृष्यादि **साधनेष्वपि** प्राणि हिंसा दुर्निवारा। **हिंसया पातकमेव** भवति। पातकाच्च दुःखमेव जायते। **इत्थं** विचिन्त्य हिंसादोषदर्शी साधकः **विषयेभ्य** उपरमति। एतेन विषयोपरमेन या तुष्टि जायते सा उत्तमाम्भ संज्ञां लभते। अहिंसा **कारणादियमस्यान्वर्थ संज्ञा।**

एवमेता नव तुष्टयो **मोक्षपरिपन्थिन्यः।** एताः साधकस्य **योगिनश्चेतांसि मोह–** यन्ति मोक्षाभिरुचिं च **प्रतिवध्नन्ति।** तुष्टि जाल **निबद्धाः साधकाः श्रवण मनन** निदिध्यासनादीनि साधनानि **त्यजन्ति, पुनरेवते संसारकूपे** एव पतान्ति। **तस्मान्मोक्षाधि** गतिपर्य्यन्तं **साधकेन** सावधानेन निज चेतः तुष्टिभ्यः परिहर्त्तव्यम्।